२३१
काहमी

६२४१

कला भारती प्रकाशन

6281
230
कहानी

कफनचोर

कफनचोर और बीस अन्य-कहानियों के इस संग्रह का प्रकाशन—समाज में फैली हुई लूट-खसोट, पाप और अनाचार, कुण्ठा और अनास्था के माहौल में—एक अर्थपूर्ण और महत्वपूर्ण प्रयत्न है।

रचनाकार श्री तिलक नई पीढ़ी के कहानीकार हैं, किन्तु नये नहीं। उनमें एक प्रकृत कहानीकार के सभी गुण भरपूर विद्यमान हैं—सतत् निरीक्षणशील पैनी दृष्टि, सामाजिक जीवन की तहों में पैठकर अन्तर-मंथन की क्षमता, जीवन-सत्यों और मूल्यों को अनावृत कर उनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति, रोचक वर्णन-शैली और प्रवाह।

इन कहानियों में हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के ऐसे रंग-बिरंगे यथार्थ चित्र हैं जिन्हें पढ़ते पढ़ते मन आत्मविभोर हो जाता है। इनमें यदि एक ओर शोषण, गरीबी और दुख-दैन्य के तिलमिला देने वाले कटु-यथार्थ और तीखे व्यंग हमारी सहज सम्वेदना को उद्बुद्ध करने वाले हैं तो दूसरी ओर 'नई ज़िन्दगी' की अगवानी के लिए सारी खुशियाँ और पुरजोश तैयारियाँ भी हैं।

एक ओर इनमें मानवीय दुर्बलताओं, भ्रम और संदेहों के स्वाभाविक खाके हैं तो दूसरी ओर आदर्शों और उच्च मूल्यों की मीनारें भी हैं जिनमें शहनाइयों के स्वर गूँज रहे हैं। प्रबुद्ध रचनाकार ने एक तरफ नवनिर्माण में नौकरशाही हथकण्डों, पाप और पोलखातों को बेनकाब किया है तो दूसरी ओर देश और इन्सानियत के स्वर्णिम भविष्य की अगवानी की।

इस संग्रह में चुन चुन कर पिछले दशक में रची गई तिलक जी की वे कहानियाँ हैं जिन्हें प्रबुद्ध पाठक बार बार पढ़ेंगे। कुल मिलाकर इन कहानियों में वह सब कुछ है जिसमें इन्सान को प्यार है और जो हमारी समाजी सभ्यता की धरोहर है।

कला भारती प्रकाशन

©
श्री तिलक

कला सज्जा : श्री योगी — रेखाचित्र : श्री सिद्धेश्वर अवस्थी
आवरण : जॉब प्रेस प्राइवेट लिमिटेड के सौजन्य से
मुद्रण : जे. पी. फाइन आर्ट प्रेस, कानपुर
प्रकाशन : कलाभारती, १६/२० बी, सिविल लाइन्स, कानपुर
प्रथम संस्करण : १९६३ — मूल्य : पांच रुपए

233
कहानी

6281

प्रेमचन्द और गोर्की
की परम्परा को

?

कफ़नचोर १

हमसफ़र ८

सांस और सिसकन १५

टिकुली १९

ज़िन्दगी वहती है २४

प्रेम-पत्र २९

व्यूटीज़ आफ एशिया ३४

फ़िनिशिंग टच ३९

शिकवा शिकायत ५०

झटके ५७

६३ मुजरिम

८० नई ज़िन्दगी

८७ सपरिवार प्रार्थनीय

९१ मूल्यांकन

१०३ प्रायश्चित

१०७ जव पत्थर ने शहादत दी

११३ आशा के दीप

१२० तूफान के वाद

१२५ कम्वल और कवि कौशल

१३० चांदी का गडुआ

१३५

खत का मज़मूं

?

कफ़नचोर १

हमसफ़र ८

सांस और सिसकन १५

टिकुली १९

ज़िन्दगी वहती है २४

प्रेम-पत्र २९

व्यूटीज़ आफ एशिया ३४

फ़िनिशिंग टच ३९

शिकवा शिकायत ५०

झटके ५७

६३ मुजरिम

८० नई ज़िन्दगी

८७ सपरिवार प्रार्थनीय

९१ मूल्यांकन

१०३ प्रायश्चित

१०७ जव पत्थर ने शहादत दी

११३ आशा के दीप

१२० तूफान के बाद

१२५ कम्वल और कवि कौशल

१३० चांदी का गडुआ

१३५

खत का मजमूं

कफ़नचोर

दुनियां कहां से कहां पहुंच गई मगर आज के इस नुमाइशी युग में भी चौक का मुहल्ला सदियों पिछड़ा जान पड़ता है। नगर-निर्माण, स्वास्थ्य, सफाई और आधुनिकता के सम्पर्क से सर्वथा वंचित सा। गोल दरवाज़े के अन्दर, सड़क के नाम पर एक तंग सी टेढ़ी-मेढ़ी गली है— जिसके दोनों तरफ मिठाई, तम्बाकू, बिसातखाने, गल्ले और सर्राफे की बेतरतीब दुकानें और ऊपर कोठों से झांकती हुई मजबूरियां हैं और समूची फिज़ां में एक अजीब सी गलाज़त। मेले की रात है। पास और दूर के मुहल्लों से लोगों के दल के दल उमड़े चले आ रहे हैं। दूकानदारों का हाथ नहीं रुकता अपने अपने ढंग से सभी व्यस्त जान पड़ते हैं। बच्चों को चटोरापन पागल किये हुये है और युवतियां बिसातखाने की दूकानों पर टूटी पड़ती हैं। बड़े मियां खरीदारी से तंग आ चुके हैं; खोपड़ी पर गर्दनतोड़ बोझ लद चुका है, मगर रहीमा की मां को अभी भी तृप्ति नहीं है। एक अजीब सी धकापेल है। सारी की सारी भीड़ गर्द को रौंदे डालती है और कोलाहल ऐसा कि कान पड़ी बात सुनाई

नहीं देती। सहसा भीड़ से एक ज़ोरदार रेला आया और कुछ लोग एक दूसरे को धकियाते हुये दौड़ने लगे।

"मारो साले को ... पकड़ो ... वह गया ... जाने न पाये" और ऐसी ही बहुत सी मोटी पतली आवाज़ें एक दूसरे से टकरायीं और गली में हलचल सी मच गई। जिज्ञासाओं की एक लहर सी आ गई। कुछ लोग कानाफूसी करने लगे, और कुछ तमाशबीन कामकाज भूलकर भेड़ाचाल में शामिल हो गये।

मोड़ पर भीड़ का जमघट हो गया और अधिकांश लोग उधर ही टूट पड़े, जैसे उसी काम के लिये यहां आये हों। दूकानदारों के दिलों पर सांप लोट गया, मगर यहां हानि लाभ, जेब और पैसे की चिन्ता किसे थी। सोलह सत्रह साल के एक छोकरे पर बेतहाशा मार पड़ रही थी। जिसे देखो वही गुस्से में पागल नजर आ रहा था। लड़का सर बचाता तो पीठ पर धमाका होता और पीठ बचाने का मौका ही कहां था। एक ने कमीज़ का गला पकड़ रखा था दूसरे ने उसके बड़े बड़े ख़ुश्क बालों को जकड़ रखा था। बाहें पहिले ही बेकाबू थीं। और करबला के इमाम साहब गुस्से से तमतमा रहे थे।

"कफ़नचोर है साला।" एक ने कहा।

"चोरी की सज़ा मिलनी ही चाहिये।" दूसरे ने फैसला सुनाया। और लड़के के मुँह पीठ और कन्धों पर एक साथ दस बीस घूंसे तमाचे बरस पड़े।

"मुर्दे का कफ़न!" दुन्नी खलीफा ने आश्चर्य प्रकट किया, "लाहौल क्या जमाना आ गया है।"

"मैं...मैं तो...।" लड़के ने प्रकम्पित स्वर में कुछ कहना चाहा।

"मैं मैं नहीं, रंग दो साले के लहू से।" दांत पीसते हुए एक अधेड़ उम्र सज्जन ने कफ़न की चादर दिखाई। लड़के के उतरे

हुये मुँह पर एक घूँसा और पड़ा। आंसुओं में खून की सुर्खी बह चली।

"आखिर ये क्या तरीका है ?" नज़ीर मियां ने बीच में पड़ते हुये कहा।

"आपसे क्या मतलब जी ?" एक सूरमा गुस्से में बड़बड़ाये।

"तेरी मां ……", नज़ीर मियां ने एक ही सांस में कई चुनीदा गालियां दे डाली, "मतलब पूछता है ? और हमसे !"

नज़ीर पहलवान की लाल लाल आंखें, भीमकाय शरीर, कलफदार मूँछे और भयंकर मुद्रा देखते ही भीड़ में सन्नाटा छा गया।

"छोड़ दो इसे", हुकुमराना ढग उन्होंने कहा, "हमारे सामने से नहीं भगेगा।"

नज़ीर के कहे पर तत्काल अमल हुआ। लड़के ने आंसुओं की पनचादर से नज़ीर मियां पर कृतज्ञतासूचक दृष्टि डाली और दूसरे ही क्षण कमीज़ के फटे दामन से मुँह पोंछने लगा। कमीज़ का दामन और गरेवां अबतक करीब करीब तर हो चुका था।

"चोरी का इल्ज़ाम सही है ?" नज़ीर मियां ने अपनी भारी भरकम आवाज़ में सवाल किया, "कफ़न चुराया था तूने ?"

"मैं "हुज़ूर"" लड़का गिड़गिड़ाया।

"सही बात पूछता हूँ। याद रखना !… नज़ीर का गुस्सा बहुत खराब है। समझा ?" पहलवान ने मूँछ का दाहिना सिरा उमेठते हुये कहा।

"हूँ !" लड़के ने शर्म और सहमति से गर्दन झुका ली।

"सज़ा का खौफ नही था तुझे ?" नज़ीर ने बड़ी आत्मीयता से कहा, "चोरी…और वह भी कफ़न की !"

"मेरी मां…", लड़के ने रुंधे हुये स्वर में रुक रुक कर कहा, "मेरी मां बहुत बीमार है।"

"बकता है साला", एक बुजुर्ग ने शिकायत की, "देखा पहलवान ! नम्बरी बहानेबाज़ मालूम होता है। मां बीमार है इसकी !"

"ठीक तो है। कफ़न का इन्तजाम पहले मौत बाद को।" नुक्कड़वाली दूकान से लाला जी ने फब्ती कसी।

"सुना तूने !" पहलवान ने लड़के का कन्धा झकझोरा, "क्या नाम है तेरा ?"

"शबराती।" लड़के ने धीरे से कहा।

"रहता कहां है ?"

"यहीं, शामीना साहब के अहाते में।"

"बाप क्या करता है ?"

"बाप तो रहा नहीं।"

"और तू ?"

"मेहनत मजूरी", शबराती ने कहा, "जो मिल जाय…।"

"तेरी मां बीमार है ?" नज़ीर ने प्रश्न किया।

"हूँ।" लड़के ने संक्षिप्त सा उत्तर दिया।

"कफ़न तुझे कहाँ मिल गया ?" पहलवान ने आश्चर्य से आखें फैलायीं।

इससे पहिले कि शबराती कुछ कह पाता, इमाम साहब बोल पड़े। "मज़ार खोद कर निकाला है, बदबख्त ने। अँधेरी रात होती तो भला ये हाथ आता।"

नज़ीर पहलवान ने हुजूम पर दृष्टि डाली और उनकी आंखें पुनः शबराती पर आ टिकीं।

"तो [illegible] कफ़न किस लिये लाये थे ?" पहलवान ने शबराती [illegible] र एक थपकी रसीद की।

"मेरी मां ", शबराती की आँखों से आँसू छलक आये, "गरीब आदमी हूँ। उसकी पीठ और पसलियों में दर्द है। बुखार बहुत तेज है बाबू।" लड़के ने बड़ी दयनीयता से कहा।

"इलाज कराया होता। इसके लिये कफ़न की क्या जरूरत ?" पहलवान ने लापरवाही से कहा।

"अस्पताल गया था। सवेरे डाकडर को फुरसत नहीं थी।" शबराती बोला।

"शाम को नहीं गया ?" पहलवान ने पूछा।

"गया था बाबू। दिन छुपे नम्बर आया तो पर··", लड़के ने हिज्जे से करते हुये कहा, "डाकडर कहते है मरीज को यहीं ले आ। बिना देखे दवा नहीं मिल सकती।"

"ठीक तो कहा उन्होंने", एक खद्दरधारी महाशय बोले, "घर क्यों नहीं बुला लिया ?"

"बाबू", लड़के ने ठंडी साँस ली, "घर पर दिखाने की फीस पड़ती है। मेरी मां ····"

"अबे तो अस्पताल ले जाता।" समाज सेवी ने झुँझलाकर कहा, "हर ऐरेगैरे के घर डाक्टर थोड़े ही जा सकता है।"

"ठीक कहते हो नेता जी ! इसने जेल कहाँ काटी है !" एक आवाज़ आई।

"तो सरकार कहाँ कहाँ एम्बुलेंस भिजवादें ! देश क्या स्वतन्त्र हुआ दिमाग खराब हो गये !" समाजसेवी जी बड़बड़ाये।

"लैक्चर बन्द कीजिये।" पहलवान ने टोकते हुये कहा, "चल दिखा कहाँ है तेरी मां।"

लड़के की बाँह पहलवान ने अपने हाथ में लेली। जो भीड़ अब तक खामोश खड़ी थी उसमें जिन्दगी जैसी हरकत शुरू हो गई। तमाशबीनों की अकलमन्दी छांटने का मौका मिल गया।

एक साथ बहुत सी टार्चों की रोशनी ने उस टूटे हुये झोपड़े पर भी आलीशान कोठियो की चकाचौंध पैदा कर दी। अन्धेरा दूर हो गया ? लड़के के पीछे पीछे पहलवान, इमाम साहब और कई लोग अन्दर घुसे। आगे की गति अवरुद्ध हो गई।

"अम्मी" लड़के ने बुढ़िया के माथे पर हाथ फेरा "अम्मी !"

अम्मी के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। हाथ पाव ढीले। पेट पीठ से सटा हुआ। शरीर विवस्त्र। कमर पर टाट का एक फटा टुकड़ा ही शेष था।

"यह तो मर गई !" इमाम साहब ने नब्ज छोड़ते हुये कहा।

और लड़का फूट फूट कर रोने लगा।

नजीर मियाँ उदासी से मुँह लटकाये बाहर आये।

"अस्पताल जाने के लिये जिस्म पर कपड़ा भी तो चाहिये।" भीड़ पर दृष्टि डालते हुये उन्होंने सक्रोध कहा, "कहाँ गये नेता जी ?"

"बुढ़िया को भूख और सर्दी से···नजात मिल गई ······।" पहलवान ने भराये स्वर मे रुक रुक कर कहा।

"मुर्दे का कफ़न", इमाम साहब ने ठंडी सास ली, "मुर्दे के काम आ गया।"

मजमे में सन्नाटा छा गया और झोपड़े के भीतर सिसकियाँ सुनाई पड़ी।

हमसफ़र

क्यू का रवाज़ यूं बुरा नहीं—लेकिन कभी जब अपना नम्बर क़तार के आखिर में आये तो कमअज़कम मुझे अपने डीलडौल और जिस्मानी ताक़त का ख्याल आ जाता है। और तब, जैसे खीज मिटाने की ग़रज़ से मैं ख़ुद से कहता हूं कि दुनियाँ में आख़िर कुछ कमज़ोर और नाज़ुक लोग भी तो हैं ; लेकिन दिल को तस्कीन कहाँ !

उस रोज़, बदनसीबी से मैं कतार का आखिरी आदमी था। आज़ादी से हिल-डुल सकता था। मेरी जगह का, जहाँ तक मुझे याद है कोई ख्वाहिशमंद न था ; और इसलिये किसी को मुझसे हसद भी क्योंकर हो सकता था ? बल्कि, अगर कोई मेरी जगह के बारे में सोचता तो उसे मुझसे हमदर्दी ही हो सकती थी।

वहीं से खड़े खड़े मैंने कई बार सड़क पर दूर तक नज़र दौड़ाई, कि बस थी कि बस न पूछिये आने का नाम ही न ले रही थी बड़ी

बेसब्री से मैं उसका इन्तज़ार करता रहा। एक एक मिनट जैसे मुझे 'रिलेटिविटी' का सिद्धान्त समझाने पर तुला हुआ हो। कुछ तो गाड़ी छूट जाने का अन्देशा और कुछ यह शशोपज कि बस में जगह मिले न मिले—बस मेरा दम घुटा जा रहा था।

मेरी ही तरह और भी कई लोग बस की बाट जोह रहे थे। लेकिन क्या उनके दिल भी मेरी ही तरह धुकुर-पुकुर कर रहे थे ? किसी मर्द या औरत के सीने पर हाथ रखकर देख भी तो नहीं सकता था। फिर भी मेरा ख्याल है कि वे मेरी तरह परेशान न थे, क्योंकि उनके चेहरों पर, उनकी बातचीत में एक इतमीनान था। इतमीनान—जो प्रायः स्कूली लड़के-लड़कियों के चेहरों पर होता है।

एक अधेड़ उम्र सज्जन, जो ज़ाहिरा तौर पर किसी दफ्तर के बाबू लगते थे, महंगी का रोना रो रहे थे। दूसरे बुजुर्ग रह रह कर उस ज़माने की दाद दे रहे थे जब रुपये का बीस सेर गेहूं, सोलह सेर दूध और अढ़ाई सेर घी मिलता था।

एक तीसरे तिलकधारी सज्जन—जिनका जनेऊ रामनामी चादर से बाहर झांक रहा था और चुटिया सिलपट खोपड़ी पर झण्डे की तरह फहरा रही थी—बातचीत का मज़ा भी ले रहे थे और खड़े खड़े तम्बाकू की जुगाली भी कर रहे थे। जब-तब उनके बेडौल मुंह से 'हूं' 'हां' भी निकल रहा था और लुत्फ ये कि दांतों की चक्की बदस्तूर चल रही थी।

मेरे ठीक आगे दो पहाड़ी छोकरे—जो शायद किसी ढाबे में प्लेटें साफ़ करते होंगे—अपनी मादरी ज़ुबान में कुछ कह सुन रहे थे। जब तब वे हँसते तो उनके मोटे होठों से पीले पीले दांत बिजली की तरह चमक उठते। उनके शरीर और कपड़ों से मैल और पसीने की एक ऐसी गंध छूट रही थी कि मैंने ज़रा बचकर

हमसफ़र

क्यू का रवाज़ यूं बुरा नहीं—लेकिन कभी जब अपना नम्बर क़तार के आखिर में आये तो कमअज़कम मुझे अपने डीलडौल और जिस्मानी ताक़त का ख्याल आ जाता है। और तब, जैसे खीज मिटाने की ग़रज़ से मैं खुद से कहता हूं कि दुनियाँ में आखिर कुछ कमजोर और नाज़ुक लोग भी तो हैं ; लेकिन दिल को तस्कीन कहाँ !

उस रोज़, बदनसीबी से मैं कतार का आखिरी आदमी था। आज़ादी से हिल-डुल सकता था। मेरी जगह का, जहाँ तक मुझे याद है कोई ख्वाहिशमंद न था ; और इसलिये किसी को मुझसे हसद भी क्योंकर हो सकता था ? बल्कि, अगर कोई मेरी जगह के बारे में सोचता तो उसे मुझसे हमदर्दी ही हो सकती थी।

वहीं से खड़े खड़े मैंने कई बार सड़क पर दूर तक नज़र दौड़ाई, लेकिन बस थी कि बस न पूछिये आने का नाम ही न ले रही थी बड़ी

बेसब्री से मैं उसका इन्तजार करता रहा। एक एक मिनट जैसे मुझे 'रिलेटिविटी' का सिद्धान्त समझाने पर तुला हुआ हो। कुछ तो गाड़ी छूट जाने का अन्देशा और कुछ यह शशोपज कि बस मे जगह मिले न मिले—बस मेरा दम घुटा जा रहा था।

मेरी ही तरह और भी कई लोग बस की वाट जोह रहे थे। लेकिन क्या उनके दिल भी मेरी ही तरह धुकुर-पुकुर कर रहे थे? किसी मर्द या औरत के सीने पर हाथ रखकर देख भी तो नहीं सकता था। फिर भी मेरा ख्याल है कि वे मेरी तरह परेशान न थे, क्योंकि उनके चेहरो पर, उनकी बातचीत में एक इतमीनान था। इतमीनान—जो प्राय. स्कूली लड़के-लड़कियो के चेहरों पर होता है।

एक अधेड़ उम्र सज्जन, जो जाहिरा तौर पर किसी दफ्तर के बाबू लगते थे, महंगी का रोना रो रहे थे। दूसरे बुजुर्ग रह रह कर उस जमाने की दाद दे रहे थे जब रुपये का बीस सेर गेहूं, सोलह सेर दूध और अढ़ाई सेर घी मिलता था।

एक तीसरे तिलकधारी सज्जन—जिनका जनेऊ रामनामी चादर से बाहर झांक रहा था और चुटिया सिलपट खोपड़ी पर झण्डे की तरह फहरा रही थी—बातचीत का मजा भी ले रहे थे और खड़े खड़े तम्बाकू की जुगाली भी कर रहे थे। जब-तब उनके बेडौल मुह से 'हू' 'हा' भी निकल रहा था और लुत्फ ये कि दांतों की चक्की बदस्तूर चल रही थी।

मेरे ठीक आगे दो पहाड़ी छोकरे—जो शायद किसी ढावे में प्लेटे साफ करते होंगे—अपनी मादरी जुबान में कुछ कह सुन रहे थे। जब तब वे हँसते तो उनके मोटे होठों से पीले पीले दांत बिजली की तरह चमक उठते। उनके शरीर और कपड़ों से मैल और पसीने की एक ऐसी गंध छूट रही थी कि मैंने जरा बचकर

खड़े होना ही ज्यादा मुनासिब समझा। मैं उनकी बातचीत समझ नहीं सका। मैंने समझने की कोशिश भी नहीं की। मुझे फ़ुरसत भी कहाँ थी। मेरा दिमाग़ तो बस और ट्रेन को छोड़कर एक सवारी में—एक लड़की में जा उलझा था।

वह एकदम लड़की नहीं थी—डील डौल और अंगों के उभार से वह औरत कहलाने लायक थी। साबर के सफ़ेद सैंडिलों से झाँकते हुये उसके गुलाबी पैरों पर पहिले-पहल मेरी नज़र पड़ी। एक ही बार में मेरी शैतान आँखों ने उसे सर तक नाप डाला। चेहरा, मैं शुरू में नहीं देख सका; 'सायड-पोज़' भी नहीं—क्योंकि वह खड़ी ही ऐसे ढंग से थी। मैं अपनी जगह से थोड़ा बहुत हिला डुला भी, लेकिन बेकार।

तभी मुझे एक झटका सा लगा। लगा, जैसे सारे राहगीर और हमसफर मुझे घूर रहे हैं। लेकिन दरहक़ीक़त ये भ्रम था। यह सही है कि वहाँ मेरा कोई परिचित न था; किसी के वहाँ होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। फिर भी मुझे जान पड़ा जैसे मैं कोई अपराध कर रहा हूं। मुमकिन है मेरे संस्कारों ने मुझे झकझोरा हो।

मैंने बस के लिये फिर से नज़र दौड़ाई—जैसे मैं खुद को भुलावे में डालना चाहता था; पर दिल की आवाज़ तो दिमाग़ से कहीं ज्यादा ताक़तवर होती है और अनजाने ही मेरी आँखें पुनः उस लड़की की ओर जा लगीं। हाथों की पतली और सुडौल उंगलियाँ जैसे किसी मध्यकालीन शिल्पी ने गढ़ी हों। लाल-लाल चमकते हुये नाख़ून ऐसे कि दिल में पैवस्त हो जाँय और पता भी न चले।

और वाहरी मेरी क़िस्मत! दूर से आते हुये एक मोटर ट्रक के हार्न ने उसे चौंका दिया। अब उसका चेहरा मुझे एकदम स्पष्ट था—लेकिन मेरी दिमाग़ी हालत एकदम बदल चुकी थी।

खीर के भरे कटोरे में जैसे मक्खी निकल आई हो। गालिबन, वह अपने 'टुयेन्टीज' पार कर रही थी। उसके चेहरे पर न बच्चों जैसी मासूमियत थी और न यौवन की छाया ही मुझे दिखाई दी, बल्कि चेचक के बेशुमार दाग थे। उस सिल जैसे दागी चेहरे से, न जाने क्यों मुझे चिढ़ सी होने लगी।

भूखी-भूखी आंखें, सूखे हुये होंठ, मुरझाये हुये गाल और लटके हुये उदास चेहरे को देखते ही मेरा वह 'फर्स्ट सायट' वाला नशा न जाने कहां उड़ गया। नशे की जगह एक तरह का कसैलापन ले चुका था। मेरी खीज उस चोर जैसी थी जिसने शहद के धोखे शहद की मक्खियों में हाथ डाल दिया हो।

वह कौन है? क्या करती है? क्या उसकी मजबूरियां हैं? क्या उसके इर्द-गिर्द की फिज़ां है—मैंने कुछ भी न सोचा। बल्कि यकतरफ़ा डिग्री की तरह उस अपरिचिता को नीचा दिखाने की मेरी इच्छा अंगड़ाई ले उठी। लेकिन मैं कर क्या सकता था? दो घड़ी का मेहमान—अगली गाड़ी से मुझे यह शहर छोड़ देना था। उसे नीचा दिखाने की बस एक ही तमन्ना—जिसकी गैरमुनासबत को मैं तसलीम करता हूं—मुझे परेशान किये थी।

यकायक बस ने आकर मुझे दिमागी परेशानी और बिला सबब झुंझलाहट से बचा लिया। वह आकर रुकी और सवारियां एकदम टूट पड़ीं, जैसे हर किसी को अपनी फ़िकर थी; बुड्ढे, बच्चों और औरतों का लिहाज किसी को न था। क्यू बना जरूर था लेकिन उसे तोड़ कर आगे बढ़ने वाले पहिले ही अन्दर पहुंच गये थे। क्यू क्या हुआ मुसीबत हो गई!

"दीखता नहीं!" एक ने कहा।

"आंखें खोलकर चला कीजिये।" दूसरे ने ताकीद की।

"आपही को नहीं जाना, और भी हैं।" तीसरे ने हांक लगाई।

यों किसी का पैर कुचला; किसी के पैसे गिर पड़े। और कन्डक्टर महाशय टिकट बांटते रहे—कुछ ऐसे अंदाज़ में जैसे इन्हीं से वैतरणी पार हो जायेंगे। एक साहब पांच का नोट थामे, रेज़गारी की किल्लत से परेशान होकर अलग खड़े हो गये—मुमकिन है क़िस्मत जाग जाय! ख़राब सिक्के धड़ाधड़ लिये-दिये और लौटाये जा रहे हैं—उनके चलन के लिये इससे बढ़िया मौक़ा और क्या होगा?

तो ख़ैर, इस हाय-तोबा के बाद मुझे खड़े होने भर को जगह मिल गई। उस लड़की को भी—जो बस-कन्डक्टर की नजर में लेडी थी। और लीजिये गाड़ी भर गई। सीटें खचाखच! खड़े होने की जगह में सोलह की बजाय छब्बीस सवारियाँ। भीड़ की ये हालत कि पावदान पर लटकने को भी जगह बाक़ी न थी। जिन्हें टिकट नहीं मिला वे टिकट के लिये मिन्नतें कर रहे हैं; और जो जगह पा गये हैं वे जगह की तंगी को रो-झींक रहे हैं।

ज़नानी सीटें भी घिरी हुई थीं। और वह महिला बड़ी तेज़ी से इधर-उधर दृष्टि दौड़ा रही थीं, जैसे तमाम सीटों में अपने लिये जगह तलाश करती हों। लेकिन ये हिन्दुस्तानी मुसाफ़िर हैं जिनके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। समझते हैं जैसे 'लेडीज़ फ़र्स्ट' का उसूल इन पर लागू ही नहीं होता। बस-कन्डक्टर अपने पैसे सम्हालने में मशग़ूल था और मैं उस 'लेडी' के चेहरे पर क्षण-क्षण बनती-बिगड़ती रेखाओं के अध्ययन में। सही बात यह है कि उस लड़की की निराशा और बेबसी से मुझे एक तरह का आत्मतोष हो रहा था।

"बोलता है जगे नाय ऐ।" कन्डक्टर ने किसी नवागन्तुक पर झुंझलाते हुये कहा और तमाम सवारियों की निगाहें एकबारगी

बाहर की तरफ उठ गईं। पल भर को एक खामोशी छा गई। तभी एक दिलचस्प वाक़या गुज़रा :

ढाई-तीन बरस के एक बच्चे ने अपने बाप की गोद से उतरते हुए कहा, "तछ्लीफ लतिये।" सारे मुसाफ़िरों की आँखें उधर ही जा लगीं। चिकन का छोटा सा कुर्ता और ढीला सा पाजामा पहिने वह ठेठ लखनऊआ लग रहा था। महिला का दामन पकड़े वह पूरे खुलूस से इसरार कर रहा था, "वैथिये न।"

लड़के का बाप अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और सीट खाली हो गई। उस महिला के गालों पर सुर्खी झलक आई थी। उसकी आँखें जो धरती में गड़ी जा रही थीं—कुछ डबडबा आई थीं। तमाम मुसाफ़िरों के ठहाके ने उसे और भी परेशानी में डाल दिया।

"बैठ जाइये।"—लड़के के बाप ने खाली जगह की तरफ़ इशारा किया। वह धम से जा बैठी—जैसे वह खुद को सम्हाल नहीं पा रही थी। उसकी मनोव्यथा का अन्दाजा लगाना मुश्किल था। जाहिर था वह इस बेढब स्थिति के लिये तैयार न थी। और शायद इसी घबराहट में वह इस ग़ैरमामूली मेहरबानी का शुक्रिया अदा करना भी भूल गई। लेकिन जल्द ही उसने खुद को सम्हाल लिया। लड़के को उसने गोद में उठा लिया और उसी पर निगाह टिकाये रही। और लड़का खुश था—बेहद खुश—शायद इसलिये कि सारे मुसाफिरों से आगे बढ़कर उसी ने किसी फ़र्ज़ को अन्जाम दिया था।

मेरे मन की जलन अब शान्त हो गई थी। उस लड़की से मुझे कोई शिकायत न थी। "चेचक के दाग ! लेकिन इसमें उसका क्या कुसूर था ? मेरी बहन और बेटी पर भी शीतला का प्रकोप हो सकता है"—मैंने सोचा—"बच्चे का पवित्र हृदय चेचक के दाग नहीं देखता।"

उसकी गोद में बैठे हुये बच्चे को देखकर मैंने पहिली बार उस 'महिला' में मातृत्व के दर्शन किये। अब मुझे एक तरह का परिताप हो रहा था; एक अनजानी आत्मग्लानि मेरे मन को कुरेद रही थी।

मेरे विचारों का तूफ़ान अभी थमने भी न पाया था कि लड़का उसकी गोद से उछल पड़ा, "तस्वीर खतिये।" उसने अपने बाप की शेरवानी का दामन थाम कर महिला पर अपनी मासूम निगाह डाली। "देखिये न!" उसने इसरार किया। और सारे मुसाफ़िर ठहाका मार कर हँस पड़े। बाप का इन्कार और शुक्रिया इस ठहाके में खो गये।

महिला फिर से उलझन में पड़ गई। लेकिन इस बार उसने युक्ति से काम लिया। लड़के को उसने गोद में उठा लिया; और अब वह उसे फुसलाने का प्रयत्न कर रही थी: मॉर्टन की मिठाई उसे न रिझा सकी तो महिला ने अपने जूड़े में खोंसे हुये फूल देदेकर उसे संतुष्ट किया।

एक अधेड़ उम्र सज्जन जो देखने में किसी दफ्तर के बाबू लगते थे—कुछ कह रहे थे। और दूसरे बुजुर्ग उनकी हाँ में हाँ मिला रहे थे। पंडित जी हूं हाँ कर रहे थे और उनकी जुगाली बदस्तूर जारी थी। और वे पहाड़ी छोकरे हंस हंस कर अपनी मादरी जुबान में कुछ कह सुन रहे थे। उनकी बातचीत मैं नहीं समझ सका। समझने की कोशिश भी नहीं की। मुझे फ़ुरसत भी नहीं थी क्योंकि मेरा दिमाग़ बस और ट्रेन को छोड़कर एक सवारी में उलझा हुआ था—वह लेडी नहीं माँ—

सांस और सिसकन

धरमतल्ला का विस्तीर्ण चौराहा और चौरंगी का नयनाभिराम राजपथ पीछे छूट गये हैं। न्यू मार्केट को पार करता हुआ मैं मछलियों की तीव्र गंध के बीच से गुजर रहा हूं। चलते चलते एक गली के मोड़ पर आ पहुंचा हूं। गली तंग है। दोनों तरफ़ इकमंजिले घरों और दूकानों की शृंखला एकदम बेतरतीब और घिनौनी है।

ऊबड़खाबड़ सी इस सीलदार गली में चहलपहल काफ़ी से ज्यादा है। घर-गृहस्थों के अलावा एक खास तरह के लोग बड़ी बेफिक्री से आ जा रहे हैं। उनकी हुलिया से जीवन में उनकी अतृप्ति और अशान्ति स्पष्ट है। मैं देख रहा हूं उनमें से अधिकांश के चेहरे वासना से बेबस होकर दायें बायें घूम रहे हैं; पैर ठिठक ठिठक कर आगे बढ़ते हैं।

यहाँ आकर मैं कुछ परेशानी सी अनुभव कर रहा हूं, गोकि मेरी परेशानी और ऊब बाकी सबसे अलग-थलग है। चाहते हुए भी मैं यहाँ से जा नहीं पा रहा—ठीक वैसे ही जैसे एक परीक्षार्थी किताबें-कापियाँ एक तरफ रखकर सोना नहीं चाहता। और लोगों की तरह मैं भी अपने दायें बायें नजरें डाल रहा हूं। होले होले, ठिठकता हुआ, सोचता हुआ, सिगरेट का धुँआ उड़ाता हुआ एक निठल्ले आवारा की तरह इन चक्करदार गलियों को नाप रहा हूं। गलियों में भटकने वाली रूहों को पढ़ने-समझने की कोशिश कर रहा हूं।

घरों की देहलियों पर चौदह से चालीस तक की लड़कियाँ और औरतें खड़ी खड़ी किसी का इन्तज़ार कर रही हैं। पूरे बनाव श्रृँगार के साथ मुख्तलिफ ढंगों से खड़ी-बैठी हैं और भाव भंगियों से जैसे हर किसी को दावत दे रही हैं। चाहते हुए भी मैं किसी से पूछ नहीं पाता इन मौन संकेतों के पीछे तुम्हारे शरीर की भूख है या आत्मा की ?

मेरे दिमागी कैनवस पर शरत् और रवीन्द्र की लजीली नारियाँ अंकित थीं। मैं अक्सर सोचता था, काश बंगाल की खाड़ी के किसी वैसे ही अनमोल मोती को पा सकता ! मगर यहाँ आकर मैं 'बोंग मोहिला' का दूसरा ही रूप देख रहा हूं। कितनी बेलाग और बेलौस होकर वे अपने रूप और शरीर का मोल-भाव कर रही हैं। मैं सोच रहा हूं समाज के मौजूदा ढाँचे में पैसे से नारी की सहज लज्जा और उसका नारीत्व वैसे ही खरीदा जा सकता है जैसे बाज़ार में बिकने वाली जूतियाँ या और कोई चीज़।

सिगरेट खरीदने के बहाने एक पनवाड़ी की दूकान पर खड़ा होकर मैं रूप की यह हाट देख रहा हूं। मेरे ठीक सामने सिगरेट का धुँआ उड़ाती हुई एक चीनी लड़की है, जिसके शरीर से चिपके

हुए साटन के वस्त्र उसकी कमर, कूल्हे, रानों और वक्ष के 'कंटूर' स्पष्ट कर रहे हैं। उसकी यह नग्नता मुझे च्यांग के चीन का स्मरण दिला रही है।

उसके ठीक बराबर वाले दरवाज़े पर कुछ पहाड़िनें हैं। इन्हें देखकर मुझे तेनसिंह की ऐवेरेस्ट विजय याद आती है। गुरखा रेजिमेंट्स के सिपाही और होटलों में काम करने वाले वे पहाड़ी छोकरे याद आते हैं जो इन्हीं की तरह मजबूर होकर अपना खून पसीना बेचते हैं।

मेरी दृष्टि अब उन पंजाबी छोकरियों को सर से पैर तक नाप रही है जिनके सुथनों से रानों का कम्पन छुपाये नहीं छुपता। रेशमी दुपट्टे का छोर जिनके कन्धों से फिसल-फिसल पड़ता है। मैं सोचता हूं क्या यही है वाह गुरू दा खालसा वाह गुरू दी फतह? लाला जी और पंजाब के क्रान्तिकारियों की शहादत का यही रंग है क्या, मैं खुद से पूछता हूं।

पान की दूकान से हटकर मैं एक गली में घुस रहा हूं। देख रहा हूं मोड़ की कोठरी से निकलते हुए उस दुबले-पतले बदनुमा नवयुवक को जो थकावट से मुंह लटकाये बाहर निकल रहा है। मैं उस छोकरी को भी देख रहा हूं जो अपने वस्त्र सम्हालती हुई मुझे एक मौन निमन्त्रण देने दरवाज़े की तरफ लपक रही है। उसके होंठों पर एक खिसियानी हँसी है जिसमें आत्मतोष जैसा कुछ भी नहीं है।

अपनी धुन में और आगे बढ़ता हूं। देखता हूं तीन चार छोकरियां जिनके तंग और कसे हुए जांघियों पर वैसी ही तंग चोलियां कसी हुई हैं—फ़्रान्सीसी छोकरों से सौदा पटा रही हैं। मैं उस मरियल बिहारी को भी देख रहा हूं जो भारतीय बेटियों और फ़्रान्सीसी मुश्टंडों के बीच दलाली कर रहा है।

[illegible] से बहुत कुछ [illegible] और बेबसी और [illegible] है। मेरे दिल [illegible] लगता है और तभी [illegible] में गूँज उठता है। मुझे लगता है [illegible] मेरे मुंह पर एक तमाचा [illegible] गली के अभिसार में [illegible]।

[illegible] : तुम मेरे देश की हीनता पर क़हक़हे लगाते हो ! भूलो मत कि नेपोलियन, ह्यूगो और फ़्लाबेयर का फ़्रांस [illegible] गुज़रा है। मेरी बहिनों और उनकी बेबसी पर हँसने से पहिले सोच लो कि तुम पर भी हँसने वाले बहुत हैं।

रात के दस बज रहे हैं। पुलिस की जीप आकर रुकी है—सिपाहियों के उतरने से पहिले ही भीड़ छटने लगी है। द्वार पर खड़ी अभिसारिकायें भीतर खिसक रही हैं और मैं लम्बे लम्बे डग बढ़ाता हुआ सोच रहा हूं : क्या इसी शस्यश्यमल भूमि पर ऋषि-मुनियों की ऋचायें गूंजी होंगी ? 'सारे जहां से अच्छा' कहने से पहिले क्या अल्लामा इक़बाल ने इन गलियों की ख़ाक छानी होगी ? क्या जननायक जवाहरलाल और उनके साथी कभी इस बारे में भी सोचते होंगे ? कब बनेगी मेरे देश में वह पंचसाला योजना जिनमें [illegible] -फ़रोश लड़कियों और गन्दे नालों में तृप्ति पाने [illegible] होगा ?

टिकुली

पूरे पौन घण्टे कुंडी खटखटाने के बाद—जब तक मेरी आवाजें सुनकर शायद सारा पड़ोस जाग चुका होगा—घर का दरवाजा खुला। और मेरा स्वागत किया मेरे दोस्त प्रोफेसर अरविन्द ने जो बरसों बाद आया था मेरे घर—मेरे साथ बड़े दिन की छुट्टियाँ मनाने। उसे अप्रत्याशित रूप से वहाँ देखकर मुझे बेहद खुशी हुई।

सच बात यह है कि वह और मैं, मैं और वह दो शरीर एक आत्मा थे। उस जमाने में जब हम लोग गोली-बट्टा खेलते थे तब से युनिवर्सिटी के दिनों तक हम दोनों एक तरह से साथ ही रहे। हम दोनों एक दूसरे के लिये खुली किताब थे। जिन्दगी का कोई भी तो राज न था जो हमने आपस में छुपाया हो। अरविन्द में कई खूबियाँ थीं—दिल-दिमाग की—कि मन ही मन में उसकी श्रद्धा करता था।

सूटकेस और होल्डोल वहीं दहलीज में पटक कर हम लोग सीधे ड्रायंग रूम में गये। चाय से भरा थर्मस मेरे साथ था। एक प्याला मैंने अरविन्द की तरफ़ बढ़ाया और उसी समय सैकड़ों विजलियां जैसे मुझ पर एक साथ टूट पड़ीं। उसके गाल पर एक टिकुली चिपकी हुई थी।

वह कुशल क्षेम पूछता गया और मैं हां-हूं करता गया। चाय का हर घूंट जहर का घूंट बनकर मेरे गले से उतर रहा था और मैं सोच रहा था किस क़दर कमीना है वह, किस क़दर जलील। दोस्त का अगर दोस्त के साथ यह सुलूक हो तो फिर यह दुनियां रहने के क़ाबिल हरगिज नहीं। नाबदान के ऐसे कीड़े को तो बेरहमी से मसल देना चाहिये। बोझ हैं ऐसे लोग धरती के लिये। पांडित्य के साथ अगर चरित्र न हो तो आदमी और मणिधर सर्प में अन्तर क्या है?

और सांप से कोई सफ़ाई नहीं मांगता। कोई यह नहीं पूछता कि वह कम जहरीला है या ज्यादा। बस सांप की एक ही सजा है कि उसका फन कुचल दिया जाय और उसे फेंक दिया जाय किसी गन्दे नाले या कूड़े के ढेर पर—चील कउओं के लिये, सड़ने के लिये।

लेकिन फिर मुझे ख्याल आया कि अरविन्द अरविन्द है। मुझे शक होने लगा अपनी आँखों और लैम्प की उस पीली रोशनी पर जिसमें मुग़ालता भी हो सकता था। शायद उसके गाल पर मसा है। कीड़ा भी हो सकता है। मसूर की दाल तो नहीं है?—एक के बाद एक ख्याल आया और मैं साँस रोके सुनता गया वह सारी बकवास जो वह अपनी थीसिस के बारे में कर रहा था।

"तुम्हारे गाल पर ये कुछ है अरविन्द···", कह कर मैंने उस चिपकी हुई चीज की तरफ हाथ बढ़ाया। लेकिन इससे पहिले कि मेरा हाथ वहां पहुंचता, उसने अपने गाल पर हथेली रगड़ी और असलित तस्त के सफेद चादरे पर आ गिरी—यह गहरे लाल रंग की टिकुली थी। बिल्कुल वही—हूबहू वैसी ही जिसे मैं खुद लाया था अपनी पत्नी के लिये हरिद्वार से।

मेरी आंखें उस खूनी टिकुली को घूर ही रही थी कि अरविन्द ने अपना दुशाला, जो कन्धे से एक तरफ खिसक गया था, सम्हाला—इस सफाई से कि टिकुली उसकी लपेट में आकर मेरी आंखों से ओझल हो गई।

सन्देह के लिये अब कोई गुंजायश न रह गई थी। भरम अगर कोई था—एक दोस्त के बारे में और उस तिरिया के बारे में जो मेरी जीवन-संगिनी थी—तो दूर हो चुका था। वैवाहिक जीवन के इन सात वर्षों में मैंने उसे बहुत करीब से देखा था। कभी भी मुझे शको-शिकायत का कोई मौका नहीं मिला। मेरी दृष्टि में वह गंगा की तरह निर्मल और पवित्र थी। लेकिन यह क्या हुआ! गंगाजली में ही हलाहल!

अरविन्द से मैंने वहीं बैठे रहने को कहा और स्वयं फोटो एलबम लाने के बहाने सीधा बाक्स-रूम में गया। सेफ खोलते ही मेरा हाथ रिवाल्वर पर गया। जीवन में पहिली बार आज मुझे इसकी भी जरूरत पड़ गई। हथियार जो कभी दोस्त के काम आ सकता था आज उसका काम तमाम करने वाला था। मैंने उसे गौर से देखा और लोड करना शुरू किया··· एक···हल्दी की भी छोटी गोली जो उसके सीने के पार होने के लिये

सूटकेस और होल्डौल वहीं दहलीज में पटक कर हम लोग सीधे ड्रायंग रूम में गये। चाय से भरा थर्मस मेरे साथ था। एक प्याला मैंने अरविन्द की तरफ़ बढ़ाया और उसी समय सैंकड़ों बिजलियां जैसे मुझ पर एक साथ टूट पड़ीं। उसके गाल पर एक टिकुली चिपकी हुई थी।

वह कुशल क्षेम पूछता गया और मैं हां-हूं करता गया। चाय का हर घूंट जहर का घूंट बनकर मेरे गले से उतर रहा था और मैं सोच रहा था किस क़दर कमीना है वह, किस क़दर ज़लील। दोस्त का अगर दोस्त के साथ यह सुलूक हो तो फिर यह दुनियां रहने के क़ाबिल हरगिज़ नहीं। नाबदान के ऐसे कीड़े को तो बेरहमी से मसल देना चाहिये। बोझ हैं ऐसे लोग धरती के लिये। पांडित्य के साथ अगर चरित्र न हो तो आदमी और मणिधर सर्प में अन्तर क्या है?

और सांप से कोई सफ़ाई नहीं मांगता। कोई यह नहीं पूछता कि वह कम ज़हरीला है या ज़्यादा। बस सांप की एक ही सज़ा है कि उसका फन कुचल दिया जाय और उसे फेंक दिया जाय किसी गन्दे नाले या कूड़े के ढेर पर—चील कउओं के लिये, सड़ने के लिये।

लेकिन फिर मुझे ख्याल आया कि अरविन्द अरविन्द है। मुझे शक होने लगा अपनी आँखों और लैम्प की उस पीली रोशनी पर जिसमें मुग़ालता भी हो सकता था। शायद उसके गाल पर मसा है। कीड़ा भी हो सकता है। मसूर की दाल तो नहीं है?—एक के बाद एक ख्याल आया और मैं साँस रोके सुनता गया वह सारी बकवास जो वह अपनी थीसिस के बारे में कर रहा था।

यकायक रात के उस सन्नाटे में एक बच्चे के हँसने की महीन सी आवाज सुनाई दी। मैं चौंक पड़ा! रिवाल्वर मेरे हाथ से फिसल पड़ा। नजर उठाई तो कोने में पड़ी चारपाई पर गुड्डी को देखा—अरविन्द की नन्ही सी बिटिया को—जो शायद कोई सपना देख रही थी और हँसे जा रही थी, हँसे जा रही थी—एक ऐसी उन्मुक्त हँसी जिसके पीछे कलुष या कुंठा नहीं थी। उसके चाँद से माथे पर राल का काला सा निशान साफ था। टिकुली नहीं थी।

६२४१

ज़िन्दगी बहती है

धरमतल्ला के चारों तरफ ज़िन्दगी वह रही है। ट्रामों और बसों का तांता लगा हुआ है। उन पर चढ़ने-उतरने वाले लोगों में मछली-भात वाले बंगाली हैं; नान-छोले वाले पंजावी हैं; बुद्धू कहे जाने वाले विहारी और मारवाड़ी महाजन हैं। मद्रासी हैं; यूरोपियन हैं। बाबू हैं; बुद्धू हैं। मजूर हैं; मुनाफ़ाखोर हैं। बहुयें हैं बेवायें हैं और हैं बाबकट वाली आधुनिकायें—गोया कि हिन्दुस्तान की नसों में बहने वाले सभी तरह के ब्लड सैल्स हैं।

मेरे ठीक सामने पश्चिमी बंगाल सरकार का सचिवालय है। जिस पर न्याय, विज्ञान, कला और साहित्य की प्रतीक मूर्तियाँ उभरी हुई हैं। मूर्तियों के नीचे लेटिन में कुछ लिखा है, जिसका मतलब मैं समझ नहीं सकता। यकायक कलकत्ते की हड़तालें, जनता

और सरकार के बीच आए दिन होने वाली कशमकश के चित्र मेरे दिमाग में घूम जाते हैं। सोचता हूं सचिवालय की यह मूर्तियां बेजान है और वे लैटिन भाषा की उक्तियां बेमानी।

के. सी. दास की दूकान पर बड़े बड़े हरूफों में लिखे हुए "रोशोगुल्ला" पर मेरी दृष्टि और उसके साथ ही अपनी जेब पर मेरा हाथ जाता है। आंखों में दूकान का भीतरी हिस्सा उभरता है। मैं उस बुड्ढे को जिसे लोग "ब्वाय" कहने के आदी हैं, अन्तर की आंखों से देखता हूं। रसगुल्ला की वह प्लेट भी जिसमें चुम्बक की कशिश है। तभी मेरा हाथ आंधी में गिरे हुए पत्ते की तरह झूल जाता है और मैं अपनी आंखें रोशोगुल्ला के सायनबोर्ड से बलात् हटा लेता हूं।

बायीं तरफ ब्रुकबोण्ड का विज्ञापन है। बिजली की केतली से चाय ढल रही है। पास खड़े चायवाले से मैं एक आने की एक कुल्हड़ चाय खरीदकर पीने लगता हूं। चाय की हर चुस्की मेरी आंखों में एक नई चमक पैदा कर रही है। अपने चारो तरफ की गगनचुम्बी इमारतों पर अगणित सायनबोर्ड, बिजली की बत्तियां, पोस्टर और विज्ञापन देख रहा हूं—"नारी का सच्चा सौंदर्य *अफगान स्नो*" "*गृहिणी का गौरव डाल्डा*" "वोट फॉर लिप्टन्स" "सुरइया की पसन्द लक्स टायलेट" और इस तरह के न जाने कितने विज्ञापन मेरी आंखों से गुजर रहे हैं।

चाय की चुस्की ले रहा हूं। दूर पर मुझे विक्टोरिया मेमोरियल और आर्ट-गैलरी दिखाई दे रही हैं। अनजाने ही मैंने इन्हें भी उन विज्ञापनों से नत्थी कर दिया है। सोचता हूं विक्टोरिया का, मेमोरियल के शिल्प-सौंदर्य [illegible] देश-विदेश के कलाकारों द्वारा [illegible] क्या मतलब ?

हो सकता है विक्टोरिया को भी कला से प्रेम हो गया हो, जैसे धन और पद से कितने लोग कला-प्रेमी बनने का दावा करने लगते हैं।

अगर यह बात है तो बंगाल में दुर्गा और सरस्वती की एक से एक खूबसूरत मूर्तियां गढ़ी जाती हैं। वे विक्टोरिया के किस संग्रहालय में हैं ? बंगाल की हर नारी कोहबर बनाती है ; मेहदी और महावर रचाती है ; घर के आँगन और द्वार पर चित्रांकन करती है। अनेक अवसर आते हैं जब वह केले और डाब से मंगल-कलश सजाती हैं; आम और अशोक से वन्दनवार बनाती है। मैं जानना चाहता हूँ जनता की इस कला पर कब किस विक्टोरिया या एलबर्ट की नजर गई है।

चाय का कुल्हड़ लापरवाही से एकतरफ पटक कर मैं एक आवारा की तरह चौरंगी-स्क्वेयर की दुकानों के सामने बिला सबब घूम रहा हूँ। बराबर चल रहे और आने जाने वाले उजले पोश बाबू मोशायों को देखता हूँ। मर्सराइज़्ड धोती सिल्किन कुर्तों वाले मारवाड़ी छैलों को देखता हूँ—जिनकी सुनहरी चेनें कुर्तों से बाहर झाँक कर महाजनी सर्वस्व का ऐलान करती हैं। मिठाई की दुकानें, प्राविज़न स्टोर्स, ज्वेलरी हाउसेज़ और रेस्तरां देखता हूँ जिनके पट किसी तवायफ़ के अड्डे की तरह हर पैसे वाले के लिए खुले हुए हैं। मैं देखता हूँ ख़ूनी होठों और तेज नाखूनों वाली उन नवेलियों को जिनकी चोलियों का कसाव और पल्लुओं का ढुलकाव पुरुषत्व को चुनौती देते हैं। यों मुझे अपने चारों तरफ विज्ञापन नजर आ रहे हैं—गोकि उनकी फार्म, टेकनिक, कन्टेन्ट और इफेक्ट अलग अलग हैं।

मेरे पैर यकायक अमेरिकी सूचना कक्ष के निकट आकर रुक गए हैं। मेरी आँखें अमेरिकी जननायकों के पोर्ट्रेट्स, अमेरिकी

कला-कृतियों, अखबारी कटिंग्ज और प्रकाशनों पर जल्दी-जल्दी तैर रही है। सोचता हूं कितना महान है यह देश जिसने लिंकन और वाशिंगटन को जन्म दिया। कितने बड़े हुये हैं यह लोग जिनके हाथों में विज्ञान की लगाम है। कितने अलमस्त हैं वह कोकाकोला पीने वाले लड़के और लड़कियां। कैसी भरी-पूरी है उनकी जिन्दगी और कितना सम्पन्न है उनका समाज।

अखबारी कटिंग्ज और शान्ति एवं स्वाधीनता के नाम पर लिखे गये कुछ पैम्फलेट्स पर मेरी निगाहें ठिठक कर आगे बढ़ जाती हैं। पिछली दो बड़ी लड़ाइयां मेरे दिमाग में घूम जाती हैं। मैं सोचता हूं क्या यही है वह अमेरिका जिसने लड़ाइयों में गोला-बारूद बेच-बेच कर सोने की दीवारें खड़ी की हैं? पो० और ओ० हेनरी की फाके-कशी मुझसे पूछती है क्या यही है अमेरिका का साहित्य-प्रेम? रोजेनबर्ग दम्पति को इलेक्ट्रिक-चेयर पर बैठा देख मैं उस स्वाधीनता की कल्पना कर कांप उठता हूं। यांकी की डालरी सभ्यता, शिकागो की अड्डेबाजी, लूट, हत्या, बलात्कार का साहित्य और गिद्ध वाला अमेरिकी झण्डा मेरे दिमाग में तूफान सा उठा देते हैं। अविश्वास, घृणा और खीज का एक कसैलापन लेकर मैं आगे बढ़ जाता हूं।

न्यू मार्केट के सहारे-सहारे कुछ चीनियों की दूकानें हैं—चीनी नाइयों, चीनी जूते वालों, चीनी धोबियों और चीनी डेन्टिस्ट्स की। इन्हें छोड़ता हुआ मैं आगे बढ़ता हूं। एक दूकान मुझे बुलाती सी जान पड़ती है। चीनी दूकानदार टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी में मेरा अभिवादन करता है। मुझे अन्दर लिवा ले जाता है। चीनी पेन्टिंग्ज, फूल, पेपरमैशी और खुदाई का काम मेरे सामने है। सूती रेशमी वस्त्रों पर कशीदाकारी और हाथी-दांत पर पच्चीकारी देख कर मैं आत्म-विभोर हो उठता हूं।

दूकान से उतर कर मैं नये हिन्दुस्तान की कल्पना करने लगता हूं। सिन्दरी, चितरंजन, नीलोखेड़ी, बंगलोर, हीराकुंड, भाखरानंगल और नवनिर्माण के दूसरे मन्दिर मेरे मस्तिष्क में एक-एक करके उभरते हैं। श्रद्धा से मेरा सर झुक जाता है। विश्वास से मेरी छाती फूल जाती है। सड़क पर मज़बूती से क़दम बढ़ाये हुये मैं मानो स्वयं आत्म-विश्वास की दृढ़ता से आगे बढ़ता हूं। लेकिन यह दृढ़ता, यह आत्म-विश्वास मुझे और कहीं नहीं दीखता—गोकि धरमतल्ला के चारों तरफ ज़िन्दगी बहती है।

प्रेम-पत्र

मैंने शान्ति-निकेतन कभी नहीं देखा लेकिन उसकी कल्पना न की हो, ऐसी बात नहीं है। गुरुदेव के कवि की कल्पना जहाँ साकार हुई हो; उनके अपरमित श्रम और असीम साधन जिसे बनाने में लगे हों; बंग-संस्कृति जिस पर अभिमान करती हो, निश्चय ही वह कला, साहित्य, शिल्प, संगीत और संस्कृति का संगम होना चाहिये और वहाँ से निकला हुआ हर साधक मंजा हुआ कलाकार—यह विश्वास बहुत पहिले से मेरे मन में जमा हुआ था।

नीला के बारे में जब मैंने पहले-पहल सुना कि वह कत्थक के विशेष अभ्यास के लिये शान्ति-निकेतन से यहाँ आई है तो मुझे मन ही मन उससे मिलने, उससे कुछ सुनने, उसका कुछ देखने—गरज कि, उसे करीब से समझने की उत्कंठा हुई। मेरी यह इच्छा मुझ पर इस कदर हावी हुई कि उसने एक तरह के उन्माद का रूप ले लिया।

मैं उससे मिली। मिलकर मुझे लगा कि मैं पहिली वार एक इन्सान से मिली हूं। ऐसी लड़की से जो सही मानों में इन्सान है। जिसके सांस के उतार-चढ़ावों में संगीत का सरगम है। जिसकी भाव-भंगियों में नृत्य की मुद्रायें और कत्थकी भाव हैं। जिसके कलेजे में कलाकार का हृदय और जिसके शरीर में सृजन की आत्मा निवास करती है।

कुछ ही दिनों के सम्पर्क में हम दोनों एक दूसरे के वहुत निकट आ गये। नैकट्य ने उसकी कमज़ोरियां मुझे स्पष्ट न की हों, यह वात नहीं। लेकिन कुछ ऐसा जादू सा हो गया था मुझ पर कि मैं उन्हें भी चाहने लगी थी। हीनता की सी भावना मेरे मन में तो उठती थी लेकिन मुझे लगता था कि उसके नदी जैसे प्रवाहमान व्यक्तित्व में मुझ नाली की क्षुद्रता भी मिलकर महान हो रही है।

मेरे दिन का अधिकांश समय उसी के सम्पर्क में वीतता। हास्टिल से कालिज का वहाना करके जाती और घण्टों उसके पास वैठी रहती। उसके आग्रह पर मैं क्लास चली भी जाती तो जल्दी ही मेरा मन उचाट खाता और मैं लेक्चर के वीच ही खिसक कर फिर उसके पास आ जाती। शाम को जव छुट्टी का समय होता तो मुझे हास्टिल लौटते समय एक असह्य पीड़ा सी होती और जव भी मौक़ा पाती मैं किसी न किसी वहाने उससे रात में मिलने का समय निकाल लेती।

नीला की प्रतिभा वहुमुखी थी। वह गाती थी। अच्छा गाती थी। नृत्य पर तो उसका विशेष अधिकार था ही और इसी के सिलसिले में वह यहाँ आई थी। वह लिखती थी और इसके अलावा उसे चित्र और शिल्पकला में गहरी रुचि थी। रात को अक्सर मैं उसे तन्मयता से कैनवस और कूंची में जुटा पाती।

उसके बनाए हुए कुछ पोर्ट्रेट्स भी मैंने देखे। लेकिन एक बात मैंने हमेशा अनुभव की और वह यह कि वे सब के सब एक ही व्यक्ति की विभिन्न मुद्रायें मालूम होती थीं। उस व्यक्ति की जिसका व्यक्तित्व उसकी कहानियों के नायक में उभरता था। उस व्यक्ति का जिसके बस्ट उसने लाइफसायज में मिट्टी पर अनेक बार बनाए और बना कर बड़ी बेरहमी से तोड़ डाले थे।

मैं अक्सर पूछा करती थी नीला कौन है यह भाग्यशाली जो तुम्हें इतना प्रिय है लेकिन वह हर बार बड़े भोलेपन से मुस्करा देती। बहुत कुरेदने पर कहती: अभी मेरा जी नहीं भरा। अगली बार मूर्ति बोल उठेगी। यों हमेशा उसकी उँगलियाँ चलती रहती पर न मेरे प्रश्न का उत्तर मिलता न उसे संतोष। और उसकी साधना का सिलसिला जारी रहता।

नीला की समूची जिन्दगी मेरे लिए एक खुली हुई किताब की तरह थी। मेरे और उसके बीच कोई दुराव न था, कोई छिपाव न था। मैं और वह शरीर से दो होते हुए भी मन से एक थी। और इसलिए जब भी मेरी जिन्दगी के अँधियारे में चाँद सितारों की छाया भी आई तो मैंने उसे साफ-साफ बता दिया। लेकिन इससे उसके मन में किसी प्रकार की मलिनता, क्लेष या विद्वेष न पैदा हुआ। यह सब होते हुए भी वह केन्द्र जिसके चारों ओर उसकी कला के चक्र घूमते थे उसने स्वयं मुझे कभी न बताया।

यह गुत्थी मेरे मन को निरन्तर कुरेदती रही और एक दिन जब मैं उसकी चारपाई पर लेटी, तकिये पर मुंह धरे कुछ सोच रही थी तभी मुझे उसमें कुछ कागजों की चरमराहट सुनाई दी। वह मूर्ति बनाने में व्यस्त थी। मौका पाकर मैंने तकिए को खोल डाला और उसकी तहों में ऐतिहात से रखे हुए सभी मुआसिरत पत्र लेकर खिसक गई।

एक एक करके रात भर में मैंने ये सभी पत्र पढ़ डाले। उन्हें बार-बार पढ़कर भी मुझे तृप्ति न हुई। उनमें किसी के दिल की धड़कनें थीं। मैंने पहिले भी अपने और कितनों के प्रेम-पत्र देखे थे। वह जो बाजार में बिकते हैं उन्हें भी टैक्स्ट बुक्स की आड़ में, घर भर की निगाहों से बचा-बचा कर इम्तिहान की रातों में पढ़ा है। लेकिन ये खत उन सबसे अलग-थलग थे। क्योंकि ये नीला को लिखे गये थे किसी ऐसी-वैसी को नहीं। क्योंकि इन्हें नीला के आराध्य ने लिखा था, किसी फ़िल्मी लवर ने नहीं।

सारी रात मैं सो नहीं सकी। पड़ी-पड़ी करवटें बदलती रही। सोचती रही उससे इस बारे में कुछ पूछूं कि न पूछूं। इस दिमागी द्वन्द के बीच सवेरा हो गया। वे पत्र मैंने फिर वहीं रख दिये लेकिन नारी की जिज्ञासा मैं दबा न सकी। उत्तर में नीला बच्चों की हँसी हँस दी। बोली, तुम्हें दिलचस्पी है तो आगे से मेरे हर पत्र को तुम्हीं खोलना।

जब तक वह रही वह अपने अनिल का हर खत पहिले मुझी को थमा देती थी—स्वयं पढ़ती भी न थी। कहती तुम पढ़ लो। बता दो क्या लिखा है। उसका यह रवैया मेरे लिये किसी पहेली से कम न था, लेकिन मैं सोचती थी नीला नीला है। वह मामूली लड़की नहीं है। उत्तर में उसने स्वयं मुझसे भी एक-दो पत्र लिखाये और एक दिन आर्ट-ऐक्ज़िबीशन में जब योगी का एक चित्र ख़रीदने को हम लोग पैसे न जुटा सकीं तो उसने अनिल के नाम एक तार भेज दिया।

उसी दिन शाम को अपना साज़-सामान बाँधते हुये उसने कहा, "मैं इसी गाड़ी से वापिस जा रही हूँ शान्ति-निकेतन।"

मैंने कहा, "ऐसी जल्दी क्या है? ठहरो न? यह यकायक तुम्हें क्या सूझ गया? और अभी तो तुम्हारा रुपया आने वाला है।"

"नहीं। अब मैं रुक न सकूंगी। मैंने तुम्हारे साथ छल किया है बहिन। अनिल नाम के किसी भी आदमी को मैं नहीं जानती। यह पत्र भी मेरे अपने लिखे हुये हैं। बायें हाथ से लिखे हैं मैंने अपने ही नाम। पोस्टल स्टैम्प देखोगी तो पता चल जायगा।" उसने तकिये से खत निकाल-निकाल कर फ़र्श पर फेंकते हुये कहा।

ब्यूटीज़ आफ एशिया

संतरी ने आठ का घण्टा वजाया है। सोचता हूं तुम खाना वना चुकी होगी। कुछ देर में नौ वजेंगे और तुम खाने पर मेरा इन्तज़ार करोगी। घड़ी की सुइयाँ रेंगतीं रहेंगी; तुम्हारे ख्यालों में मेरी तस्वीरें उभरती रहेंगी और फिर जव नौ वजेंगे, घड़ी के हर घण्टे से तुम्हें घन की सी चोट लगेगी। घड़ी की टिकटिक के साथ तुम्हारे दिल की धड़कनें तेज़ होती जायेंगी और तुम हमेशा की तरह उठ खड़ी होगी।

कमरे में वेचैनी से चहलक़दमी करोगी। उनींदी सड़क से गुज़रने वालों में तुम मुझे देखना चाहोगी। मगर अफसोस, हर वार तुम्हें नाउम्मीदी होगी। हर बार तुम धम से जाके चारपाई पै वैठ जाओगी। घड़ी पर बार-वार तुम्हारी नज़र जायेगी। तुम्हारी कोफ्त और दिमाग़ी बेचैनी मैं समझ सकता हूं। दस बजे तक तुम यंही परेशान होती रहोगी और फिर थककर, ऊबकर, झुंझलाकर पड़ रहोगी। पड़े-पड़े मुझसे रूठने-झगड़ने के मन्सूवे

बांधती रहोगी। रात घनी होती जायगी और तुम्हारी पलकें नींद से लगातार बोझिल होती जायेंगी।

खाना ठंडा हो जायगा। सूखी रोटियां अकड़ जायेंगी। दाल बेमजा हो जायगी। तुम्हारी भूखी आंतें कुड़मुड़ा कर रह जायेंगी। हवा तेज हो रही है। घर का बुड्ढा दरवाजा शायद चरमरा उठेगा। तुम चौंक कर जाग पड़ोगी। सोचोगी मैंने दस्तक दी है। जल्दी से लपक कर तुम दरवाजे तक आओगी। रोज की तरह कड़क कर पूछोगी, "कौन ?" जवाब में सिर्फ हवा सनसनायेगी। सोचोगी, मैं मजाक कर रहा हूं; तुम्हारे रोब में मेरी बोलती बन्द होगई है। उफ़ ! उस वक्त दरवाजे की कुंडी चढ़ाने के लिये मैं नहीं होऊंगा; लपक कर अपनी बांहों में तुम्हें समेट नहीं सकूंगा।

कैसी बेबसी है ! तुम घर पर अकेली हो। शायद इसीलिये परेशानी से हथेलियों में मुंह दबाये पड़ी हो। मैं यहां गोकि अकेला नहीं हूं फिर भी परेशान तो हूं ही। इस तंग सी कोठरी में और भी कई लोग हैं—किशोर लड़के है, जिनके सरों पर शायद मां-बाप का साया नही है। नौजवान हैं, घर पर शायद उनकी बीवियां भी तुम्हारी ही तरह परेशान होंगी। एक अधेड़ उम्र मौलाना भी हैं पता नही उनके बिना कहां बेरोनक़ी ने अड्डा जमाया होगा।

हवालात के अंधेरे मे हम एक दूसरे को साफ तौर से देख भी नही सकते, क्योंकि सीखचो से छन-छन कर आने वाली बाहर की रोशनी बहुत धीमी और एक तंग से घेरे मे महदूद है। बुड्ढे को छोड़ कर सभी ठंडे और सीलनदार फर्श पर फैल गये हैं। वह भी ऊंघ रहा है। एक बीड़ी के लिये बेचारे ने घण्टों मिन्नतें की हैं मगर उसे वह भी नसीब न हो सकी। मैं जानता हूं हवालात के रजिस्टर में हम सब के नाम पर एक-एक डायट दर्ज होगी जबकि मांगने से यहां किसी ने पानी तक नही दिया।

आज शाम से ही मेरे दिमाग में एक तूफ़ान सा आया है। न जाने कब-तब की भूली बातें, चेहरे और घटनायें बिना किसी सिलसिले के मेरे दिमाग में उभर रहे हैं। रात में जब भी तुम्हारी आँख खुलेगी तुम मुझे अपने पास न पा कर सिहर उठोगी। मुमकिन है फिर तुम्हारी आँख न लगे। और सबेरे या दिन में जब तुम्हें यह ख़बर मिलेगी कि मैं गिरफ़्तार कर लिया गया हूं तो तुम एकदम से घबरा कर हक्की-बक्की हो जाओगी। शीला की माँ तुम्हें धीरज बँधायेंगी। शीला के पिता जी सारा काम-काज छोड़कर मेरी ख़ैर-ख़बर को दौड़े आयेंगे। और इस बीच पड़ोस की तमाम औरतें अपना काम-धाम छोड़कर तुम्हें घेर कर सवालों की बौछार शुरू कर देंगी। दो-दो चार-चार इकट्ठी होकर आपस में कानाफूसी करेंगी। मैं समझ सकता हूं उस वक़्त तुम्हारी दिमाग़ी हालत क्या होगी।

फिर दिन में किसी वक़्त तुम्हें पता चलेगा कि मैं चोरी के अपराध में पकड़ा गया हूं। शर्म और ग्लानि से तुम्हारी गर्दन—वह सिर जो भूख, ग़रीबी और पामाली में भी नहीं झुका—झुक जायगा। चोरी ! जिसके लिये लोग पिटते हैं, ज़लील होते हैं, सज़ायाब होते हैं—मेरे ख़िलाफ़ सचमुच यही इल्ज़ाम लगाया गया है।

तुम जानती हो किताबों के लिये मुझमें एक कमज़ोरी है। अच्छी किताब देखकर न जाने मुझे क्या हो जाता है। सुधबुध खो बैठता हूं। अन्दर का जैसे कोई स्प्रिंग ढीला हो जाता है। जेब में पैसे न होने पर भी मैं किताबों की दूकानों के चक्कर लगाया करता हूं। माना कि बिना मेम्बर बने लायब्रेरियों से किताबें इशू नहीं हो सकतीं; फिर भी शीशे की अलमारियों से उन्हें देखने में ही आत्मतोष होता है। तुमसे क्या छुपा है। हर बार कुतुबख़ाने में एक सुकून की उम्मीद लेकर जाता हूं और वहाँ से एक बेचैनी—एक बेबसी—लेकर लौटता हूं क्योंकि मेरी जेब में कभी भी इतने पैसे नहीं होते कि क़ायदे से कुछ ख़रीदारी कर सकूं।

हस्वमामूल आज भी मैं सरेशाम से वहीं था। और दूकानों मे नई-नई किताबों के पन्ने पलट चुकने के बाद मैं ब्रिटिश बुक डिपो गया था—क्योंकि मेरे ख्याल मे वहां जाये बिना तो कुतुबखाने जाने का मक़सद ही पूरा नहीं हो सकता। शहर में किताबों की सबसे शानदार और बड़ी दूकान भी तो यही है। हर मज़मून पर हर ज़ुबान में यहां लेटेस्ट पब्लिकेशन मिल जाता है। अंग्रेज़ लड़कियों की सेल्समेनशिप के तरीके पता नही तुम जानती हो या नहीं। वे अपने कस्टमर को खुश करना जानती है। उससे वे ऊबती नहीं हैं। जिस ढंग से वे किताबें निकाल-निकाल कर देती है मैं हमेशा ही उसका पूरा-पूरा फ़ायदा उठाता हूँ।

आज भी यही हुआ। क़रीब डेढ़ घंटे तक मैं किताबें उलटता-पुलटता रहा। लेकिन लौटते वक्त जब मैं दूकान से उतरने लगा तो मुझे ख्याल आया कि सामने वाला शोकेस तो देखा ही नही। मैं घूम पड़ा। कुछ किताबें नई थी मगर ऊपर वाले खाने में एक अमरीकी किताब पुरानी थी—ब्यूटीज़ आफ एशिया। इस किताब के बारे में मैं सेल्स-मैनेजर से कई बार कह चुका था कि वह उसे वहां से हटा दे; उसे न बेचे। हर बार वह आलरायट कह कर मुझे टाल देता था। दुबारा स्मरण दिलाने पर अफ़सोस जाहिर करता और आगे से मेरे कहे पर अमल करने का वायदा करता। लेकिन आज जब मैंने उससे इस बारे मे फिर कहा तो उसका तौर-तरीक़ा एकदम बदला हुआ नजर आया। बोला, "ये किटाब इसी माफ़क रहेगा। हटाना नही मांगटा। अम इसको सेल का वास्टे रखटा है।"

मैंने कहा, "यह किताब अब से यहां नही रहनी चाहिये। चीन जापान, बाली, बर्मा, हिन्द और पाकिस्तान, लंका और हिन्देशिया और एशिया की बहन-बेटियां इसलिये नहीं हैं कि उनके नग्न चित्र-संग्रह इस तरह बेचे जांय।"

"वट दे आर द ब्यूटीज़ आफ एशिया।" उसने झुंझला कर कहा।

"इट इज़ द परवर्सिटी आफ एंग्लो-अमेरिकन आउटलुक। प्राबेबली यू पीपुल डोन्ट हैव आईज़ टु सी एण्ड एप्रिशियेट द रियल ब्यूटीज़ आफ एशिया।" मैंने उसे अंग्रेज़ी में ही डांटा।

"शट अप यू ब्लडी एशियाटिक," उसने गुर्राते हुए कहा, "आयल थ्रो यू आउट।"

तुम जानती हो मैं ऐसी भाषा सुनने का आदी नहीं हूं। विश्वासों, मान्यताओं और स्वाभिमान के लिये खुद को खतरे में डालना भी जानता हूं। उसकी वात शायद पूरी भी न हुई थी कि मेरी वँधी हुई मुट्ठी शोकेस पर पड़ी। दूसरे ही क्षण वह किताव मेरे हाथों में पहुँच कर चीर-चीर हो चुकी थी। उस गोरे के गरेवां पर मेरा हाथ था।

इस बीच वहां कितने ही लोग जमा हो गये थे। खुदा जाने फ्लायंग स्क्वेड वहां कहां से टपक पड़ा। पुलिस के संगीनी पहरे में मुझे यहाँ तक लाया गया है और अव मैं हवालात में हूं क्योंकि मेरे खिलाफ ताज़ीरात हिन्द की कई दफाएँ आयद हो चुकी हैं। लेकिन मेरा ख्याल है क़ानून की दफाएं उस किताव को वहाँ सुरक्षित न रख सकेंगी। यहाँ से निकलते ही मैं फिर उस दूकान पर जाऊँगा—तुम्हारे प्यार और धरती की सौगंध है मुझे, एशिया की वहन-वेटियों को यों सरेवाज़ार वेइज़्ज़त न होने दूंगा।

फ़िनिशिंग टच

भैसा कुंड के श्मसान से बेलीगारद के कब्रिस्तान तक गोमती की दिशा एकदम बदल सी जाती है। दरिया के किनारे-किनारे सड़क का यह तीन चार मील टुकड़ा एकदम सुनसान सा रहता है। ख़ास कर रात में यहाँ मनुष्य की छाया भी नही दिखाई देती। सूरज छिपने से पहिले-पहिले चरवाहे अपने ढोर बकरियाँ लेकर घर की राह लेते हैं, क्योंकि साँझ का धुंधलका ज्यों ज्यों घना होता जाता है, वैसे वैसे एक अज्ञात सा भय उनके दिल-दिमाग़ पर हावी होने लगता है।

बारिश की अँधेरी रातों में यह रास्ता सचमुच ही बड़ा डरावना लगता है। गोमती की टेढ़ी-मेढ़ी धार, नागिन की तरह लहराती—बलखाती—चमचमाती—अगणित लहरों से फुफकारती आगे बढ़ती है और जब तब बीच-बीच में सड़क को निगल जाने के लिये छटपटाती सी जान पड़ती है। यही कारण है कि बेचारे

राहगीर मीलों का चक्कर स्वीकार कर लेते हैं किन्तु भूले भटके भी इस रास्ते को नहीं अपनाते। फिर भला तिवारी बाबू ही क्यों जानबूझ कर खतरा मोल लेते।

उनकी झिझक दरअसल स्वाभाविक थी क्योंकि इस रास्ते के बारे में वे अनेक घटनायें सुन चुके थे। रात भी आधी से ज्यादा ढल चुकी थी और अँधेरा ऐसा कि कुछ भी सुझाई न दे रहा था। अपनी तरफ़ से तिवारी जी ने लाख कहा किन्तु अशरफ़ की जिद के आगे उनकी एक न चली।

"नहीं मानते तो चलो, अशरफ़।" उन्होंने उलहाना सा दिया, "मगर याद रखना रास्ता......"

"अमां छोड़ो भी। वहां पंडिताइन जी को एक एक मिनट भारी पड़ रहा होगा।"

"जी हां, और यह मौसम है...बरसात का..." तिवारी जी ने फ़िल्मी धुन में क़हक़हा लगाया किन्तु उनके लहजे में एक ऐसी लड़खड़ाहट थी जो उनके दिल की तेज होती धड़कन का आईना बन कर अशरफ़ से छुपी न रह सकी।

"म्यां देखो न", हँसी मजाक का सिलसिला जारी रखने के ख्याल से अशरफ़ बोला, "अपने सेक्रेटरी साहब को भी किस वक्त खुदा याद आया! भलेमानुस जरा देर सबेर टिकट कटाते तो क्यूँ सारा का सारा दफ्तर इस बेवक्त के जनाजे में परेशान होता!"

"अशरफ़ साहब," तिवारी जी ने दार्शनिकता झाड़ते हुए कहा "मरीज़, मौत, मुसीबत और मुवक्किल वक्त नहीं देखते।"

"तो गोया आपके ख्याल-शरीफ़ में सेक्रेटरी साहब का इन्त-काल सरेशाम ही जरूरी था।"

"छोड़ो भी यार, क्या मनहूस टापिक छेड़ बैठे।" अशरफ़ को तिवारी जी ने लगाम लगायी।

"तब फिर रग और रूमानियत कहाँ से लाये ?" अशरफ ने उलझन सी व्यक्त की, "बेग़म साहिबा तो अभी मइके में तशरीफ फ़र्मा हैं……"

अशरफ की बात अभी पूरी भी न हो पाई थी कि नदी की धार में छप-छप की आवाज़ सुनाई दी। अनजाने ही दोनों के पैर रुक गये। शायद साँस भी। बहुतेरी निगाह दौड़ाई किन्तु झाड़-झंकाड़ से ज्यादा वे कुछ भी न देख सके। दोनों हतबुद्धि से एक दूसरे का चेहरा घूरने लगे !

"अ…श…रफ।" तिवारी जी घबराये।

"क्या ख्याल है पार्टनर ?"

"मैं क्या जानू। मैंने तो शुरू से ही कह दिया था कि रास्ता खतरनाक है।"

"अमाँ यार………", अशरफ ने लापरवाही से कहा।

"अमाँ यार नहीं ! चुपचाप चले चलो। सही-सलामत घर पहुँच जाओ तब समझना।" तिवारी चलते-चलते झुंझलाये।

"आखिर कोई बात भी हो।" अशरफ ने स्वर में दृढ़ता भरते हुये कहा।

"सुनते हैं ये शैतान हर रोज़ एक न एक जान ले लेता है। और पूरनमासी के नहान पर तो दो चार मामूली बात है।"

"या खुदा !" अशरफ ने लम्बी साँस ली।

"तुम्हें शायद मालूम नहीं। दशहरे पर ये नामवर तैराक की बलि लेता है। औरत, मर्द, बच्चे सब इसके लिये एक से हैं। यही क्यों, भेड़-बकरियाँ भी तो इससे नहीं बचतीं। न मालूम आज किस पर दाँत है ?" तिवारी जी ने गोमती की धार पर दृष्टि डालते हुये चिन्ता व्यक्त की।

"सुन रहे हो ?" अशरफ़ ने ठिठकते हुये कहा।

"हूँ ।" और तिवारी जी ने धार की तरफ़ कान फैलाये ।

"आवाज़ तेज़ होती जा रही है ।"

"यह तो इसी तरफ बढ़ रही है ।" तिवारी जी और भी बेचैन हो उठे ।

"फिर ?" अशरफ़ बोला ।

"टार्च लाये हो ?"

"टार्च ?" अशरफ़ ने चेस्टर की जेब टटोलते हुये सिर हिलाया । "न", उसने मरी सी आवाज़ में कहा ।

छप-छप की आवाज़ बहुत साफ़ हो गई । लगा जैसे कोई पीछा करता चला आ रहा हो । न जाने क्यों दोनों ने घबराहट में दौड़ना शुरू कर दिया । दिलों की धड़कनें और भी तेज़ हो गईं । सांस फूलने लगा । तिवारी जी इस दौड़ में कुछ आगे निकल गये थे । सहसा उनके मुंह से एक ज़ोरदार चीख निकली और वे उसी क्षण सड़क पर गिर पड़े ।

"तिवारी", हरीश को उठाते हुये अशरफ़ ने भर्राई आवाज़ में कहा, "क्या बात है तिवारी बाबू ?"

क्षण भर उत्तर की प्रतीक्षा के बाद उसने फिर वही शब्द दोहराये । बूंदाबांदी अभी आरम्भ नहीं हुई थी । रह-रह कर हल्की फुहार पड़ रही थी । आकाश में बादल घुमड़ रहे थे और धरती पर पड़े थे तिवारी जी—हाथ पाँव ढीले, बेहोश-बेख़बर । माथा पसीने से तर हो रहा था ।

अशरफ़ ने इधर-उधर निगाह दौड़ाई और फिर उसकी आँखें तिवारी जी पर आ टिकीं । पल भर वह कुछ सोचता सा रहा । काफ़ी देर पहिले भी बारिश हुई थी । सड़क के गड्ढों में पानी अभी सूखा नहीं था । अशरफ़ ने जेब से रूमाल निकाला और इसी गँदले पानी से तर किया । और धीरे-धीरे हरीश का मुंह पोंछा ।

उसने आँखें खोली।

"क्या बात है तिवारी?" अशरफ़ ने सहारा देकर उठाने का प्रयत्न किया।

"मोड़......के......प......पास!"

"मोड़ के पास!" अशरफ़ ने अँधेरे में दृष्टि फैलाते हुये पूछा, "क्या है वहां?"

"स......सफ़ेद......कप......कपड़े......अ...शरफ़।" तिवारी जी लड़खड़ाये।

अशरफ़ की आँखें और भी फैल गईं। सचमुच ही दरख़्तों के नीचे कोई छुपा हुआ दिखाई पड़ रहा था।

"एक...दो...चार...पाँच..." तिवारी ने रुक-रुक कर कहा।

"आँखों का भ्रम नही है।" अशरफ़ सोचने लगा, "कहां मुसीबत में आ फँसे।"

सहसा बादल की गरज के साथ-साथ बिजली चमकी।

और अशरफ़ के मुंह पर प्रसन्नता की लहर सी दौड़ गई।

"वाह रे तिवारी", अट्टहास करते हुये उसने कहा, "कमाल कर दिया। पुते हुये पीपों को न जाने क्या-क्या समझ बैठा, मेरा मिट्टी का शेर!"

बिजली फिर चमकी और तिवारी ने उसके क्षणिक प्रकाश में सत्य को साकार रूप में देख लिया। हवा के साथ-साथ बादल छँटने लगे। हृदय और मस्तिष्क पर छाया अँधेरा भी।

धार में छपछप के स्वर पुनः उभरने लगे। अशरफ़ और तिवारी की निगाहें घूम गईं। कुछ देर वे यों ही मूर्तिवत खड़े रहे। बूंदा-बांदी थम गई और उन्होंने एक दूसरे पर अर्थपूर्ण दृष्टि डाली।

"देख लें इसे भी।" अशरफ़ ने दिलेरी से कहा।

उसका यह हौसला तिवारी जी को भी उचित ही जान पड़ा।

"मानव संस्कृति के समूचे विकास में भी तो यही सूत्र छिपा है", उन्होंने मन ही मन कहा, "निराशा में आशा और रहस्यों में तथ्य भी तो ऐसे ही हाथ आते हैं।"

आवाज़ के साथ-साथ एक दैत्याकार काली छाया उन्हें पानी की सपाट सतह पर रेंगती नज़र आई। आग की एक छोटी सी लौ जीभ की तरह लपलपाई और शान्त हो गई। छाया एकदम काली नहीं थी। सफ़ेद-सफ़ेद से दाग़ स्पष्ट दिख रहे थे। वे दोनों ही इसे टकटकी लगाये देखते रहे। कई मिनट बीत गये।

सहसा दोनों खिलखिला कर हँस पड़े।

"धत्तेरे की", तिवारी ने क़हक़हा लगाया, "खोदा पहाड़ निकली चुहिया।"

"और जनाब डर गये उसी से", अशरफ़ ने शिकायत की, "ये है आपकी दिलेरी!"

"यारों को नौका-विहार भी कैसे महूरत में सूझा है! माचिस से सिगरेट क्या जलाई अलादीन का चिराग़ जला दिया।"

आकाश अभी साफ नहीं हुआ था। ऊपर सितारों का काफला और उसकी धूमिल छाया में ये दो राहगीर, लम्बे-लम्बे पग बढ़ाये चले जा रहे थे, जैसे ऐवरेस्ट विजय कर के लौट रहे हों। नदी की धार अब भी उनके साथ-साथ चल रही थी।

"क्या ख्याल है तिवारी जी?" अशरफ़ ने छेड़ते हुये कहा, "रास्ता कैसा है?"

"यार तुम न होते तो......"

"शुक्रिया। बजा फ़रमाते हैं। मरघट से कब्रिस्तान का रास्ता है कि मज़ाक!" अशरफ़ ने लखनवी अँदाज़ में गम्भीरता प्रदर्शित की।

"मज़ाक नहीं अशरफ ! इस रास्ते में कुछ न कुछ अलावला है ज़रूर ।"

"ज़रूर साहब । अच्छा खासा आदमी यहाँ चुक़द्दम बन जाता है । यही क्या कम है ?"

"चुकद्दम ही नहीं अशरफ, राहगीरों को जिन्दगी से हाथ तक धोने पड़े हैं । वह तो कहो मैं हनुमान चालीसा पढता रहा । नही तो''''''न जाने क्या से क्या हो सकता था !"

"अपना-अपना अकीदा है बिरादरमन । भला ख़ुदाई ताकतों के सामने शैतानियत टिक कहाँ सकती है ?" अशरफ़ मियाँ बोले ।

"जो घटनायें मैंने पढ़ी-सुनी हैं उनसे साफ ज़ाहिर है कि अच्छे-अच्छे हेकड़ भी यहाँ आकर सारी चौकड़ी भूल गये । पिछले हफ्ते का वाक्या शायद तुम्हें मालूम नही ?"

"क्या हुआ तिवारी जी ?" अशरफ़ ने मुँह बनाया ।

"यह सामने खड्ड है न । इसी मे एक लड़की की लाश बरामद हुई थी ।"

"क्या उमर थी ?" अशरफ़ ने थानेदार के लहजे में सवाल किया ।

"बीस-बाईस की बताते हैं । आई. टी. मे पढ़ती थी ।"

"नाक-नक्शा ?"

"ये मैं क्या जानूं ।" तिवारी जी ने चौंकते हुये कहा, "अपटू-डेट तो होगी ही ।"

"तब ठीक है । चुड़ैल का भूतों से पाला पड़ गया होगा ।" अशरफ़ ने क़हकहा लगाया ।

"कैसे यक़ीन दिलाऊँ तुम्हें ? जब तुम आत्मा और आवागमन ही नहीं मानते तो''''''!"

"वन्दा तो शैतानियत का पुतला है, जिससे ख़ुदा और ख़ुदा के वन्दे, मुल्ला-मौलवी भी कटे-कटे रहते हैं।"

"वेग़म साहिवा नहीं हैं, इसलिये और भी वेलगाम हो रहे हो। यही वात है न ?"

"पंडितायन जी तो हैं। और आपका दरेदौलत भी करीव है।"

"आओ न।" तिवारी ने तिराहे पर ठिठकते हुये कहा, "चाय पीकर चले जाना।"

"ताज़े दूध की ? न भाई।" अशरफ़ ने हँसते हुये कहा, "अपने लिये एक ही काफ़ी है। आजकल में आने वाली है। असलम गया तो है गाज़ीपुर।"

"तुम्हारी मर्ज़ी, कहाँ अकेले-अकेले भटकते फिरोगे ?"

"डर लगता हो तो घर तक पहुँचा दूं ?" अशरफ़ ने हँसी दवाते हुये एक और तीर छोड़ा।

"मैं इतना कमज़ोर नहीं हूँ।"

"तव फिर आदावअर्ज़।" और अशरफ़ ने घर की राह ली।

तिवारी वावू का घर ज़रा वगल से था। तिराहे से कोई तीस चालीस क़दम के फ़ासले पर। अशरफ़ ने घूम कर देखा। तिवारी जी आँखों से ओझल हो चुके थे।

"कितना डरपोक आदमी है !" अशरफ़ ने मन ही मन कहा।

हवा कुछ तेज़ हो गई थी। गोमती में वड़ी-वड़ी लहरें उठ रही थीं। पेड़ वुरी तरह काँप रहे थे। पत्तियाँ असाधारण रूप से खड़वड़ाने लगीं थीं। वेलीगारद का क़ब्रिस्तान अनक़रीव था। जेब से सिगरेट निकालते समय, अशरफ़ को कुत्ते भौंकने की आवाज़ सुनाई पड़ी। हँसी-मसख़री उसका स्वभाव था। ज़ोर-ज़ोर से चुमकार कर उसने उन्हें वुलाना चाहा। एक दो वार मुँह से सीटी भी वजाई।

यह अकेलापन उसे न जाने क्यों, कुछ खल सा रहा था। मस्तिष्क में घूम रही थीं अनेक घटनायें,—एक से एक रहस्यमयी और रोमांचकारी !

कई तीलियाँ खराब हो गईं और तब उसने बगल के एक पेड़ की आड़ ली।

आकाश में बिजली चमकी और अशरफ को अपने इर्द-गिर्द सैकड़ों छोटी नसल के पहाड़ी कुत्ते दिखाई पड़े। कलेजा धक से रह गया। फिर वही अँधेरा। अशरफ़ ने माचिस जलाई।

"यहाँ तो कुछ भी नहीं है। तीली फेंकते हुये उसने आश्चर्य से कहा।

सामने क़ब्रिस्तान पर जो निगाह पड़ी तो अशरफ़ के होश फ़ाख्ता हो गये। काटो तो खून नहीं। ऊपर का साँस ऊपर, नीचे का नीचे। क़ब्रों के बीच सफ़ेद और मटमैले से लबादे ओढ़े हुये कितने ही धड़ दिखाई पड़े।

"कौन ?" अशरफ ने हाथ की मुट्ठियाँ कसते हुये रोब से कहा। दैत्याकार मूर्तियाँ वैसी ही खड़ी रहीं। अशरफ का सिर चकराया। शरीर काँप उठा। एकदम न जाने कितनी बातें उसके दिमाग़ में घूम गईं।

बादल रह रह कर गरज रहा था।

सहसा बिजली चमकी और क़ब्रिस्तान का रहस्य स्पष्ट हो गया।

"ये तो क़ब्रों के सलीब हैं !" चलते-चलते अशरफ गुनगुनाया, "दिल में जब खौफ घर कर लेता है तो क़ब्रों के क्रोस भी शैतान की पल्टन दिखाई देते है।"

"मुमकिन है बिजली की चकाचौंध में पत्तों की परछाइयों ने पहाड़ी कुत्तियों की शक्ल अख्तियार कर ली हो।" अशरफ़ ने अन्दाज़ लगाया।

रोडवेज़ वर्कशाप की इमारत पार करते ही बड़े लोगों की कोठियां शुरू हो गईं। बिजली की बत्तियां चमचमा रही थीं। टेलीफोन के खम्भे आंधी-पानी में भी निश्चल खड़े थे, जैसे उनके सामने भी कोई बेबसी हो—बेबसी जो कड़ाके की सर्दी और लूलपट में भी मेहनतकश मजदूरों पर हावी रहती है।

गोल चौराहा आया और पतली गली की गलाज़त में अशरफ़ साहब नाक दबाये आगे बढ़ गये। स्ट्रीट लैम्प का चटका हुआ काला शीशा चुंगी के अंधेरे को रो रहा था।

घर के दरवाज़े पर हाथ रखते ही किवाड़ खड़बड़ा कर खुल गये। सहन में सारा सामान अस्त-व्यस्त पड़ा था, जैसे घर में भूचाल आ गया हो।

"बात क्या है ?" अशरफ़ ने सशंकित होते हुये सोचा, "इतनी रात गये दरवाज़ा क्योंकर खुला है ? कहीं इस आंधी-पानी में कोई चोर-वोर तो नहीं घुस आया ?" और उसके मस्तिष्क में एक अज्ञात सा भय उमड़ पड़ा।

कमरे में पैर रखते ही अशरफ़ के मुंह से चीख निकल पड़ी। दरवाज़े की बगल वाली दीवार पर एक दैत्याकार छाया हिलडुल रही थी।

दरअसल कमरे की बनावट भी बड़ी विचित्र सी थी। दाहिने हाथ के कोने में मिट्टी के तेल का एक लैम्प टिमटिमा रहा था। इसलिये दीवार पर पड़ने वाली परछाईं भी आदमक़द न होकर छत की ऊँचाई को छू रही थी।

अशरफ़ की घिग्घी और गिरने की आवाज़ सुनते ही उसके भाई, पिता उसी समय ऊपर के कमरों से लपके। क्षण भर में हल-चल मच गई।

अशरफ ! क्या हुआ बेटे ?" बड़े मियां ने उसके सिर पर हाथ फेरा। अशरफ़ बेहोशी में 'चुड़ैल-चुड़ैल' बक रहा था।

सलीमा ने मुंह पर पानी के छींटे दिये।

"बेटी सलीमा", बड़े मियां ने आश्चर्य से पूछा, "चुड़ैल क्या......"

"यहां तो फक्त मैं ही थी", अशरफ के मुंह पर पानी छिड़कती हुई सलीमा बोली, "ये तो अभी-अभी तशरीफ लाये हैं।"

बेगम साहिबा की बात पूरी भी न हो पाई थी कि अशरफ ने आंखें खोली। क्षण भर भौचक्का सा वह इधर-उधर देखता रहा। फिर बोला, "ये लोग कब आ गये ?"

"शाम ही तो लौटे हैं" असलम ने हंसते हुये कहा, "भाई हुजूर को मुगालता हो गया; क्यों भाभी ?"

"पागल कहीं का !" बड़े मियां मुस्कराते हुये ख्वाबगाह से बाहर हो गये। असलम भी भावज की तरफ कनखियों से देखता हुआ, उन्हीं के पीछे-पीछे चला गया।

और तिवारी जी चारपाई पर पड़े सोच रहे थे, "अशरफ भी कितना दिलेर है। वह न होता तो......"

शिकवा शिकायत

इण्टरवल के वाद से ही टामी कुछ व्यग्र नज़र आ रहा था। वदवख़्त ने पिक्चर का सारा मज़ा किरकिरा कर दिया। सोचा प्यासा होगा। कूलर का ठंडा पानी दिखाया तो जनाव सूंघ के अलग हट गये और आ गये पुराने ढर्रे पर। जैसे-तैसे शो खतम हुआ मगर टामी साहव की वेकली वदस्तूर रही। और हम अटकलें लगा रहे थे कि आखिर इन्हें हुआ क्या! फ़िल्म दुखान्त जरूर थी लेकिन इससे इन्हें क्या! किसी दर्दभरे गीत का असर भी इन पर क्योंकर हो सकता था?

घर लौटते वक्त भी जनाव का वही हाल था। कभी दायें चलते, कभी वायें और कभी हमारी टाँगों के सामने आकर। कई वार मोटर-ताँगों के नीचे आते-आते वचा। कमवख़्त खुद तो मरता ही, हमें भी साथ ले डूवता। और कालोनी में तो उसने रास्ता दूभर कर दिया। लाख चुमकारा—भला वह कव मानने लगा।

हम चल रहे थे घर की तरफ और आप थे जंजीर तुड़ाकर भाग जाने की फिराक में। झुंझला कर हमने जंजीर झटकी तो जनाब पेट के बल घिसटने लगे। घूम कर देखा तो मौलाना की कुतिया पिछाड़ी दबाये चली आ रही थी। तब समझ में आया फ्रायड का फिलसफा और वह कशिश जिसने आपको इस कदर बेताब बना डाला था।

मुहब्बत भी है तो किससे ! अव्वल तो कुतिया और उस पर ये नसल। नाक-नकशा सेहत और क़द हर तरफ से गई गुजरी। वैसे ही चुग़द हैं ये चुंगी वाले, चल देते हैं टोकिन रिनू करने। भले आदमी कमअजकम कुत्ते की नसल और मालिक की औकात तो देख लिया करें।

खैर साहब खुदा-खुदा करते घर पहुँचे। टामी को रहमान के सुपुर्द किया और लीजिये हमारी बला टली। जी हाँ, बला तो है ही—आखिर इनकी नाजबरदारी इसलिये तो की नहीं जाती कि शहर भर में इश्क लड़ाते घूमें और घर की चौकसी छोड़ आवारा-गर्दी करते फिरें।

दस का घंटा बजते ही रहमान रोज की तरह टामी के लिये कटोरा भर दूध रख गया और जल्दी-जल्दी बावर्चीखाने का काम समेटने लगा। काम खतम करके जब वह जाने लगा तो टामी साहब की एक निहायत ही बेहूदा हरकत का राज खुला। जनाब के साये में खड़ी-खड़ी पयी—जी हाँ वही मौलाना की कुतिया—दूध सड़ोक रही थी। रहमान के तनबदन में आग लग गई। जमाई जो कसकर ठोकर तो कांव-कांव करती कम्पाउण्ड से बाहर हो गई। और टामी साहब की सीनाज़ोरी देखिये : आप रहमान पर ही गुर्रा बैठे। चुनांचे उसने भी इन्हें आड़े हाथों लिया—दो तमाचे में भूल... ...ाचो... ...ौर लगे उसके क़दमों में सर रगड़ने।

"क्या मानोगे ? [illegible] नहीं । वे अँधेरे और एकान्त का सहारा [illegible] जिनमें अपनी जिन्दगी [illegible] हुई खिलाफ है । आदमी और जानवर में फ़र्क यही है कि आदमी पाखण्डी भी है ।" टामी ने [illegible] हुए कहा ।

"और छोड़ो ।" पगी ने उसे शान्त करते हुए मासूमियत से कहा, "एक बात पूछूँ ?"

"बाय आल मीन्स । एक नहीं दो ।" मिस्टर टामी बोले ।

"तुम्हारे मालिक", पगी ने [illegible] से कहा, "मुझसे इतने नाराज़ क्यों हैं ? सच बताना, हमारे मिलने-जुलने में उन्हें आपत्ति क्यों होती है ?"

"बात यह है", टामी ने कहना शुरू किया, "मालिक का ख्याल है कि तुम बहुत छोटी जात की हो, तुम्हारी नसल अच्छी नहीं है और यह कि तुम्हारे साथ रहने से हम बीमार हो जायेंगे ।

"ठीक तो कहते हैं । कहाँ मैं जिसे पेट भर झूठन नसीब नहीं होता, कहाँ तुम !" पगी ने बेबसी से कहा ।

"पगली कहीं की !" टामी ने पगी के सिर पर थपकी जमाते हुये कहा, "हम लोगों में ऊँच-नीच नहीं होती । दुनियाँ भर के कुत्ते अपने-अपने ढंग से अपना-अपना फ़र्ज़ अदा करते हैं । लेकिन फिर भी हम दूसरों के टुकड़ों पर पलते और गुलामी की जिन्दगी बसर करते हैं । आदमियों जैसा दिखावा चाहे हम में न हो, पर तो भी हम उनसे बहुत मायनों में अच्छे हैं—हम में शोषक और शोषित नहीं हैं, जात-पांत की दीवारें नहीं हैं, अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर हममें लड़ाइयाँ नहीं होतीं, हममें से कोई ऐटमी हथियार नहीं बनाता । इन्सान चाहे तो हमसे वफ़ा और मुहब्बत का सबक़ सीख सकता है । और अगर हमें फाके और जिल्लतें सहनी पड़ती हैं तो

इसलिये कि हम अपने हुकूक के लिये लड़ने के बजाय हृदय-परिवर्तन में यकीन करते हैं।"

"लेकिन मैं नही चाहती कि तुम्हारी सेहत खराब हो, तुम्हारी वंश-परम्परा और कुलीनता को बट्टा लगे।" पपी ने मूल प्रश्न उठाया।

"कुलीनता का राग अलापने से कोई कुलीन नही होता और नाही बड़े घर मे पैदा होने से। कुलीनता और सेहत के ये उपदेश! मैं तुमसे कहना नही चाहता था, पर तुमसे क्या छुपाऊँ—किसी से कहना नही। घर की बात है। तुम्हें शायद मालूम नही हमारे मालिक साहब बावर्ची की बीवी से ...... मैं पूछता हूँ तब कुलीनता को बट्टा नही लगता। तब उन्हे बीमारी नही लगती।" टामी ने तमक कर कहा।

"मर्द होते ही ऐसे हैं। तुम्हारे मालिक का क्या? हमारे बुड्ढ़े मौलाना को ही ले लो। कम्बख्त पचवक्ता नमाज़ पढ़ता है, हाथ भर की दाढ़ी लिये फिरता है और बेवा भटियारिन से आश्नाई किये है।" पपी ने राय ज़ाहिर की।

"ठीक है, लेकिन सब मर्दों को दोष देना नामुनासिब है। आदमियो में भी सब तरह के हैं। सब को एक डंडे से कैसे हाँक सकती हो? और फिर औरते किस से कम हैं? दूर क्यों जाती हो, मालकिन को ही देख लो। साहब आधी-आधी रात तक क्लब में रहते हैं, महीनो के लिये दौरे पर चले जाते हैं और बेगम साहिबा रहमान से इश्क फरमाती हैं। दसियों दफा मैंने खुद उन्हे एक ही चारपाई पर देखा है। भला बताओ तब कुलीनता को बट्टा नहीं लगता? तब बीमारी नही लगती!"

बहुत देर तक तो हम ये सब सुनते रहे, लेकिन जब ये गन्दगी उछलनी शुरू हुई तो हमसे बर्दाश्त न हो सकी। हमारा स्वाभिमान

तिलमिला उठा। जैसे ही हम गुस्से से तनतनाते हुये चारपाई से उतरे कि दोनों के दोनों भाग खड़े हुये और झाड़ियों में ऐसे छुप गये जैसे उनका कोई वजूद ही न रहा हो। लेकिन उनकी बातें बहुत देर तक हमारे दिमाग में घूमती रहीं।

सवेरे जब वेगम साहिबा सोकर उठीं तो बड़ी बौखलाई हुई नज़र आ रही थीं। बोलीं, "इस नमकहराम कुत्ते को निकाल बाहर कीजिये। मैं इसका मुंह भी नहीं देखना चाहती। सारी-सारी रात गायब रहता है। रात भर कोठी का फाटक खुला पड़ा रहा और देख लीजिये मवेशियों ने फुलवारी की क्या हालत कर दी है।"

और हम सोचने लगे, कहीं ऐसा तो नहीं कि रात को उन्होंने टामी और पपी की बातें सुनली हों।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

रखकर सेठ जी मिलों के लगपट देखते थे, जिनकी सलवटों में दबी छिपकली का पता लगा तब जब उसकी सड़न से उनका सारा शरीर गंधाने लगा। कहते हैं ऐसा आदमी घर के काम का नहीं रह जाता। अगर यह ठीक भी हो तो सेठ जी को क्या फरक पड़ता था। उनके 'घर' का काम देखने वाले दर्जनों नौकर-चाकर थे, जिन्हें लेकर अक्सर चेमेगोइयां हुआ करती थीं। बहरहाल सेठ जी के जमा-खर्च पर इनका कोई असर न पड़ता था और इसीलिये वे ऐसी बातों पर कभी कान ही न देते थे। कामकाजी आदमी को भला इन सबके लिये फ़ुरसत भी कहां थी!

सेठानी जी की दशा इससे एकदम भिन्न थी। पड़े-पड़े खाने, खाट तोड़ने, नौकर-नौकरानियों को डांटने-फटकारने के अलावा उन्हें कोई काम था तो बस यही कि नित नये जेवर गढ़ायें और भोर से सांझ तक करवा-चौथ ऐसी सजी बैठी रहें—जीवन की एकमात्र साध—सन्तान की इच्छा लिये। इसके बिना उन्हें अपना सम्पूर्ण वैभव निःसार जान पड़ता था।

अक्सर वे सेठ जी को कुरेदतीं, ताने मारतीं। सेठ जी उनकी मनोदशा भली प्रकार समझते थे मगर बेचारे करते भी क्या! पुत्र-रत्न की प्रप्ति के लिये जोग, जप, दान, पुण्य, पूजा, पाठ, व्रत, उपवास, सामर्थ्य भर जो बनता था कर रहे थे। झाड़फूंक वाले ओझा-भगत से लेकर देश-विदेश बड़े से बड़े हकीम डाक्टर सब की कोशिशें चल रही थीं। ऐसे ही बरसों गुज़र गये। तब कहीं जाकर सेठानी की कोख फली। सेठ जी को पुत्ररत्न लाभ हुआ। सेठ जी उत्तराधिकारी की चिन्ता से मुक्त हो गये। अनेक डायरेक्टरों की सूची में सेठ छदामीलाल के सुपुत्र दमड़ीलाल का नाम अंकित हो गया।

देशी टोने-टोटकों और कुलाचारों की साया में बेटा दमड़ीलाल

का लालन-पालन होता रहा। वह जो भीगी छछूंदर ऐसे आँखें बन्द किये पड़े रहते थे, आँखें खोल कर दुनियां की हिस्ट्री-ज्योग्रफी समझने लगे। फिर हाथ-पैर पटकने, ललकने, मुस्कराने और करवटें बदलने लगे। धीरे-धीरे उनके दो दांत फूट आये। फिर घुटनों के बल ही उन्होंने सारी दुनियां को मापने का संकल्प किया। बढ़ते-बढ़ते नौबत यहां तक पहुँची कि दीवार का सहारा लेकर गिरते-पड़ते वे सेठ जी की गद्दी तक धावा बोलने लगे। सेठ जी उन्हें देखते तो बही-खाता भूल जाते। उनका रोम-रोम खिल उठता। लेकिन रोजगार तो रोजगार है। सेठ जी 'बीन लिये सो मोती' के कायल थे। तुरन्त फिर शेयर मार्केट से टेलीफ़ोन पर ही लाखों के वारे-न्यारे करने लगते।

धीरे धीरे बेटा दमड़ीमल हो गये ढाई बरस के—अच्छे खासे हृष्ट-पुष्ट। काजल का कजरौटा, बजरबट्टू का नजरौटा और गोटे का टोपा पहिन कर अपने नाम के अनुरूप बिल्कुल दमड़ीलाल लगते। बस एक ही कमी थी कि वे बोलते न थे। तीन बरस के हो गये तब भी उनका मौन मुखर न हुआ। जैसे-तैसे एक साल और गुजरा लेकिन उनकी जन्मजात खामोशी न टूटी। बात कुछ अजीब थी क्योंकि यही उमर होती है जब हर बच्चा बोलना बात करना दरकिनार अच्छे खासे भाषण देने लगता है—इतना बोलता है, इतने सवाल करता है कि सुनने वाले तंग आ जायें।

स्वभावतः सेठ-सेठानी को दिन-दूनी रात चौगुनी चिन्ता सताने लगी। ढलती उमर में औलाद की साध पूरी हुई तो बच्चे की तोतली बोली नसीब न हुई। सेठानी दिन भर कोशिश करती। बच्चा ध्यान से उनकी बात सुनता, बाल-सुलभ चेष्टायें करता—भूख-प्यास के इशारे करता, हँसता, मुस्कराता, रोता, बिलखता,

खेलता, कूदना, दौड़ना, जिद करना, मचलना—लेकिन जुबान से लाचार, बोलना कुछ नहीं।

घर-बाहर के लोग, नाते-रिश्तेदार, सब कोई उस फूल से बच्चे को देखते। उसके भाग्य पर तरस खाते। सेठ-सेठानी के प्रति सम्वेदना प्रकट करते। जितने मुँह उतनी बातें। कोई झाड़-फूंक की राय देता, कोई गण्डा-तावीज़ की। कोई देवी-देवताओं से मनौती मांगने की सलाह देता, कोई हकीम-डाक्टरों के इलाज की। और सेठ जी के पास लक्ष्मीनारायण की कृपा से पैसे की कमी नहीं थी। पैसा—जिसके लिये उन्होंने ऐहिक सुखों का परित्याग कर रखा था, जीवन की साधारण से साधारण इच्छा को भी बेरहमी से दबा दिया था। अपने सुख-सुविधा की बात होती तो सेठ जी पैसे के प्रति अपने सनातन मोह को न छोड़ते, लेकिन बच्चे के लिये यह भी करना पड़ा। जन्त्र-मन्त्र-तन्त्र जिसने जो बताया सेठ जी ने वही किया। कोढ़ी, कंगलों, अघोरियों को भोजन-वसन दिये। देश-विदेश के बड़े से बड़े डाक्टरों को दिखाया। राजवैद्य नीलकंठ और खानदानी हकीम शिफ़ाउलमुल्क को लाकर इलाज कराया, लेकिन व्यर्थ।

बरसों के प्रयत्नों के बाद भी जब बच्चा न बोला तो सेठ जी का उन ज्यतिपियों से भी विश्वास हिलने लगा जो बरसों से उन्हें बाज़ार की तेजी-मन्दी और घड़ी-घड़ी की ग्रह-दशा बताते रहते थे। सेठ जी निराश हो गये और सेठानी भी, जो सुहाग-सिन्दूर को तो भूल ही गई थीं। बच्चे के वर्तमान और भविष्य के बारे में सेठ जी की दुश्चिन्ताओं का अन्त नहीं था लेकिन अब जब बच्चा पाँच बरस का हो रहा था, उनका मन काफी कड़ा हो गया था।

एक दिन शहर से गुज़रते हुये जब सेठानी बच्चे का जिकर कर रही थीं तो नये ड्रायवर ने मियाँ मुनीर को दिखाने की सलाह

दी और बताया कि उनके हाथ में शिफ़ा है। कुछ ऐसी दुआ है कि एक आने की खुराक जादू का असर करती है। अमीर-गरीब सब का इलाज करते हैं वे, ड्रायवर ने कहा। सेठ जी बोले, भाई जहाँ बड़े-बड़े हार गये वहाँ मुनीर मियाँ क्या करेंगे? ड्रायवर ने साहस बटोर कर आग्रह किया, दिखाने में क्या नुकसान है सेठ जी; लगती है तो फकीर की भभूत ही गुन कर जाती है। बात सेठानी को जँच गई। उन्होंने सेठ जी को दिलासा दिया और वे दोनों बच्चे को लेकर मियाँ मुनीर के पास पहुँचे।

दो घण्टे लायन में लगे रहने के बाद सेठ जी का नम्बर आया। मियाँ मुनीर ने बच्चे को अच्छी तरह देखा। मुँह, गाल, होंठ, जुबान—बच्चे का हर पुर्ज़ा दुरुस्त था। बच्चे के जन्म, परिवार वगैरा के बारे में पूछ-ताछ करके उन्होंने उन्हें अगले रोज आने को कहा।

दूसरे दिन सेठ-सेठानी बच्चे को लेकर फिर पहुँचे और कतार में खड़े हो गये। कोई पौन घण्टे बाद उनका नम्बर आया। इस बीच मियाँ मुनीर ने कई बार बच्चे पर नजर डाली थी। बच्चा, जो बड़ी ललचाई नज़रों से सड़क किनारे बैठे, खोंचे वाले को चने-छोले बेचते देख रहा था। बच्चे का नम्बर आते ही हकीम साहब ने खोंचे वाले को बुलाया। एक आने के छोले बनवाये। सेठ-सेठानी, दवाखाने के मरीज़ देखते रहे और वह बच्चा भी, छोलों की गंध जिसके दिल-दिमाग़ को छू रही थी। हरे धनियाँ, मिर्च, नीबू और मसाले का स्वाद जिसकी जबान को तर किये दे रहा था।

खोंचे वाले से पत्ता लेकर हकीम साहब ने लापरवाही से सड़क पर एक तरफ फेंक दिया। खोंचे वाला घबरा गया। देखने वाले दंग। और वह बच्चा भी हैरान रह गया। हकीम साहब ने दूसरे पत्ते का आर्डर दिया। पत्ता बना। सब लोग देखते रहे। खोंचे

वाले ने पूरी सावधानी से उसे बनाकर हकीम साहब की तरफ बढ़ा दिया। हाथ में लेकर उन्होंने उसे भी सड़क पर फेंक दिया। लोग ताज्जुब में थे—खासकर वे जो मियां मुनीर के इन लटकों को जानते न थे। कइयों ने उन्हें सनकी समझा। खुद सेठ जी के मन में आया कि पूछ तो लें कि आखिर यह हो क्या रहा है? लेकिन तब तक तीसरे पत्ते का आर्डर दिया जा चुका था और हर कोई, खासकर वह बच्चा सांस रोके दोने तैयार होने की प्रक्रिया को ग़ौर से देख रहा था। पत्ता हाथ में आते ही मियां मुनीर ने ज्योंही उसे फेंकना चाहा वह बच्चा चीखा—"नईं···अंको दो······।"

एक विजेता की शान से अपनी बूढ़ी आँखें नचाते हुये मियां मुनीर ने कहा, "तीन आने इस खोंचे वाले को दीजिये और घर जाइये। इन्तिहा दर्जे के लाड़-प्यार से इस पर दिमाग़ी फ़ालिज का जो असर था, उसे दूर करने के लिये एक झटका ज़रूरी था।"

लेकिन सेठ जी के दिल-दिमाग़ पर जिस झटके का असर कहीं ज़्यादा गहरा था वह था उस खर्चे का जो बच्चे के इलाज में उन्हें उठाना पड़ा था।

मुजरिम

अगहन-पूस की ठंडी रातें उसने जाग-जाग कर गुजार दीं। रंग भरी होली आई पर वह भी धूल उड़ाती चली गई और मनकू की चिरसंचित आशायें आकांक्षायें भी जैसे होली के साथ ही स्वाहा हो गईं। पतझड़ के बाद बसन्त भी आया पर उसे पता भी न चला बहार कब आई। उसे याद हैं तो केवल जेठ-बैशाख की वे उदास दोपहरियां जब भीतर-बाहर की आग में वह बेबसी से झुलस उठा था। लेकिन वह गरीब बुखार की हरारत और लू-लपट को देखता या पेट की ज्वाला को ?

यह सही है कि बहू जी पहाड़ चली गई थीं। किन्तु मनकू की जान लेने को अकेले साहब ही क्या कम थे ! भोंडी शक्ल और हब्शियों जैसी रंगत होते हुये भी इन्जीनियर साहब अपने को 'साहब' कहलाना ही ज्यादा पसन्द करते थे। रहन-सहन और खानपान में ही नहीं, बोलचाल में भी वे गोरे साहबों के कान काटते थे !

उन्हीं की सेवा-चाकरी में भोर से सांझ तक मनकू को सांस लेने का अवकाश न मिलता। आधी रात तक उसके साहब की महफ़िल ख़त्म हो पाती। और तब कोठी की चौकीदारी भी उसी को करनी पड़ती। दिन निकलते तक उसे चाय-पानी का प्रबन्ध करना होता। झाड़ू लगाने और बरतन मलने से लेकर 'साहब बहादुर' के कपड़े-लत्तों तक की देखरेख का वही इन्चार्ज था। दिन भर दफ़्तर में अर्दलीगीरी और सलामियां झुकाते-झुकाते शाम हो जाती और फिर घर लौटते ही रोज के धन्धों का नीरस क्रम शुरू हो जाता। और वह था कि ज़ुबान से उफ़ तक न करता। कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात जुटा रहता। निर्दयी पेट के लिये उसे निर्दयी साहब की गाली-गलौज सहनी पड़ती और जब-तब उनके चमचमाते बूट की ठोकरें भी। मनकू के भीतर का इन्सान तिलमिला उठता; लेकिन हर विवशता उसे मूक पशु की तरह नौकरी का भार ढोते रहने पर विवश करती।

हमेशा की तरह आषाढ़ में भइयन और शीला के स्कूल खुल गये और मनकू को लगा जैसे उसका सोया भाग्य भी जग उठेगा। वह सोचता था, बहू जी आयेंगी। पहाड़ से उसके लिये न जाने क्या लायें। उनके साथ ही बूढ़ी आया भी लौट आयेगी, कितनी अच्छी है वह बुढ़िया; काम-काज में हाथ ही बटायेगी। आकाश की ओर हाथ उठा-उठा कर कितनी बार मनकू ने छुट्टी के लिये भगवान को याद किया था। क्योंकि डेढ़ साल की नौकरी में उसे एक दिन का भी अवकाश न मिला था। महरारू और बच्चों की याद, और बूढ़े बाप का स्नेह उसे गाँव की रह-रह कर याद दिला देता था।

इन्हीं कल्पनाओं में डूबता-उतराता मनकू बहू जी के स्वागत की तैयारी करने लगा। एक-एक कमरे को उसने अच्छी तरह साफ़

किया। मकड़ी का एक-एक जाला बीन डाला। और सारी कोठी को शीशे की तरह चमका दिया। फ़र्नीचर को क़रीने से लगाया। रसोई घर के सामान को छान-फटक कर धूप लगाई। बेतरतीब उगे झाड़-झंकाड़ को काट-छांट कर उसने बग़ीचे को कुशल माली की तरह सजाया-सँवारा। दिन रात एक करके उसने क्यारियाँ निराई। बेले पर मिट्टी चढ़ाई और गमलों को गेरू से रंग कर जैसे अमर यौवन की लालिमा दे डाली। वह जानता था उसकी बहू जी इन्हीं बातों से खुश होती हैं। उन्हीं की खुशी में उसकी अपनी भी खैरियत थी क्योंकि मालिक-मालकिन की नाखुशी से वफ़ादार से वफ़ादार नौकर का टिकना दूभर हो जाता है।

यों बहू जी के लौटने की तारीख जैसे-जैसे निकट आती गई, मनकू के मन में उठे घरौंदे महल का रूप धारण करते गये। अवकाश क्या होता है इसका उसने कभी अनुभव न किया था। पर तो भी काम-काज करते करते वह भावमग्न हो जाता। सोचता था डेढ़ बरस की इकट्ठी पगार देखकर उसकी महरारू कितनी खुश होगी। नये नये कपड़े और चांदी का कठुला पहिन कर एकदम रानी बन जायगी। घुटन्ना और सलूका पहिन कर उसकी प्यारी बिटिया शीला जैसी लग उठेगी। नये छप्पर से उसकी झोंपड़ी भी बँगला बन जायगी। गाँव के लोग और नाते-रिश्तेदार कहेंगे, 'मनकू शहर से राजा बनकर लौटा है।'

फिर सहसा मनकू को ध्यान आया कि उसके गांव मे एक ही साइकिल है। साइकिल क्या निरी नुमायश है। सेठ का लड़का जब-तब उस पर चढ़कर शहर आता है तो गांव के लोग, बड़े-बूढ़े, बहू-बेटियाँ सभी उसे देखते रह जाते हैं। बच्चों के लिये यही तमाशा है। पाँवगाड़ी न हुई हवाई जहाज हो गया। बावले होकर उसके पीछे भागते हैं। तब तक दौड़ते ही जाते हैं जब तक वह

पगडंडी की धूल या पेड़ की आड़ में ओझल नहीं हो जाती। मनकू के द्वार पर सायकिल देखकर लोग सोचेंगे, मनकू किस साहूकार से कम है। डेढ़ बरस खून-पसीना बहाकर उसे यही तो एक चीज मिली है।

काम जरूर मालिक लोगों के आई है पर चढ़ता तो वही है। उन लोगों की मोटर कार है तो मनकू की सायकिल, न पेट्रोल की झंझट न लैसन का झगड़ा। और रह-रह कर मनकू कृतज्ञता से भर उठता। ठेकेदार भी कैसे नेक हैं, साहब के कहने की देर न हुई, तीसरे दिन लाकर खड़ी कर दी। मिठाई लेने भेजा था। देर लगी तो पूछने लगे 'मनकू तेरे पास सायकिल नहीं है?' और साहब ने कह दिया, 'बड़ी दिक्कत रहती है।' उसने मन ही मन कहा, "साहब की बदली हुई तो सायकिल भी कानपुर से चलकर लखनऊ आ गई।" सचमुच ही ठेकेदारों की यही एकमात्र भेंट मनकू के पल्ले पड़ी थी। मेवा मिठाई की डालियों में तो उसका साझा था नहीं।

एक एक करके कई दिन बीत गये पर मनकू के विचारों का क्रम न टूटा। सोते-जागते उसे गाँव की याद सताती रही। वह सोचता रहा, छुट्टी के लिये क्या कहे? पगार का तकाजा सुनकर कहीं छुट्टी भी नामन्जूर न हो जाय। मानसिक द्वन्दों की इसी रिहर्सल के बीच मनकू ने गाँव जाने का निश्चय कर लिया। पैसों की रही सो उसने सोच लिया हया-शरम छोड़कर माँग लेगा। कोई दया की भीख तो थी नहीं। हर महीने उससे निशानी लगवा कर साहब उसे अपने पास जमा करते जाते थे। कभी होली-दिवाली भी पैसों का जिकर छेड़ा तो वर्मा साहब से उसे डाँट ही मिली। पर बहू जी तो उसे चार-छै आने दे ही देती थीं। इसीलिये उसने जानबूझ कर अपने साहब से कुछ नहीं कहा और बेसब्री से

मेम-साहब के लौटने की प्रतीक्षा करता रहा। नौकरपेशा की पहिली तारीख यों भी मुश्किल से आती है, पर वहू जी के साथ ही जैसे मनकू के जीवन की पहिली तारीख आ रही थी।

आखिर वहू जी लौट आईं। चार-छे दिन तो बारात की सी धूम रही। फिर एक दिन मनकू ने झिझकते हुये उनसे छुट्टी का चर्चा किया। झिझकते हुये इसलिये कि आया को उन्होंने पहाड़ पर ही नौकरी से अलग कर दिया था। पर वहू जी कुछ न बोलीं। मनकू की समझ में न आया कि इस चुप्पी को हां समझे या न। उसने फिर वही बात दोहराई। हां, इस बार उसने इस बात पर अधिक जोर दिया कि उसका गांव जाना बहुत जरूरी है।

"अच्छा भाई तो चले जाना, जान क्यों खाई है!" वहू जी ने उत्तर दिया।

"जान नाहीं बहूजी, हमतौ ई कहिन कि हमार पगार दै दीन जाई। साहूकार का रुपया भर देव। घर-मड़ईया छवाय लेय अउर बीघा दुई चारिक सनी बुआय लेय।"

पगार का नाम सुनते ही बहूजी की त्योरियां चढ़ गईं। बोलीं, "मेरे पास कौन खजाना रखा है, उन्हीं से कहना।"

"बहूजी आप कहि देईं तो हम आपका बहुत गुन मानी, गरीब मनई हन।" मनकू गिड़गिड़ाया।

"अच्छा अच्छा सुन लिया।" कह कर देवी जी ने जान छुड़ाई।

एक दो दिन बीत गये पर मनकू की सुनवाई न हुई। यों वर्मा साहब पहिले ही से अपने यार-दोस्तों और सैर-सपाटे में बहुत व्यस्त रहते थे, पर जब से मेम साहिबा लौटीं तब से उन्हें रत्ती भर अवकाश नहीं मिलता। दफ्तर से लौटते ही चाय पीते, फिर क्लब। दस साढ़े-दस तक खाना खाते, मनकू अपनी कहे तो कब?

सोचा था इतवार को कह-सुन लेगा। पर उस दिन पिकनिक का पचड़ा खड़ा हो गया। रास्ते भर उसके मस्तिष्क में यही पहेली घूमती रही। दिन छिपे लौटा तो कोठी के फाटक पर गांव के पटवारी जी रोनी सूरत बनाये बैठे थे। मनकू को लगा जैसे पटवारी के वेश में मृत्यु उसकी प्रतीक्षा कर रही हो। सोचा था लगान का फर्मान लाये होंगे। पर वे आये थे सचमुच ही मृत्यु का समाचार लेकर। बूढ़े बाप की मृत्यु का समाचार सुनते ही मनकू की दम सी निकल गई। आंखों से आंसू बह चले। उसके काका को सांप ने डस लिया था, और मनकू की मुद्रा से ऐसा लग रहा था जैसे उसे भी हज़ार सांपों का जहर चढ़ गया हो।

सहसा अन्दर से आवाज आई और मनकू पटवारी जी को वहीं ठहरने के लिये कह कर साहब की पेशी में जा खड़ा हुआ।

"अबे क्या हुआ ?"

"कहा बताई···हजूर·····हमारा काका···" और मनकू फूट-फूट कर रोने लगा।

"तो कौन गाँव उजड़ गया !" कह कर वर्मा साहब ने क़हक़हा लगाया। उन्हें क्या पता था उस बुड्ढे के परिश्रम से मनकू के बीवी-बच्चों को रूखा-सूखा मिल जाता था। यह लोग क्या जानें कि तथाकथित गँवार-समाज में बड़े-बूढ़े दूध की मक्खी नहीं होते। उनकी मौजूदगी ही एक बड़ा सहारा होती है।

"काका का तो बहाना है। असल में छुट्टी चाहता है।" बहू जी ने मासूमियत से कहा।

"मैं कब मना करता हूँ, हो आवे चार-छे रोज़ को विलायत।"

"आपकी इसी ढील से तो सिर चढ़ गया है।" बहू जी मिनमिना उठीं।

और ननकू आँसुओं की पनचादर से वर्मा दम्पति का यह अभिनय देखता रहा। कैसे उन्हें विश्वास दिलाये। ज़बान खोली तो खैर नहीं। साहब को बूट के फीते खोलने की जरूरत थोड़े ही पड़ती है। ननकू की रग-रग में बूढ़े बाप का वियोग कसक रहा था। जीवन-मरण के तो नहीं, वर्तमान और भविष्य के अनेक आर्थिक प्रश्न-सूचक चिह्न उसकी आँखों में उभर आये थे। पगार का प्रश्न जैसे फन्दा बन कर उसके गले में अटक गया था। बेबसी से धरती पर दृष्टि गड़ाये वह खड़ा था—पागल की तरह मूर्तिवत्। तभी वर्मा साहब ने एहसान सा लादते हुये कहा :

"अबे तेरे जाने से बाप तो जिन्दा हो न जायगा। फिर भी तेरी मेम-साहब ने बुलाया है तो हो आ। मगर देख जल्दी लौट आना।"

ननकू ने भीगी पलकें उठा कर जैसे स्वीकृति दे दी।

"खड़ा-खड़ा क्या देख रहा है, जा चाय के लिये पानी रख।" इन्जीनियर साहब ने मुसीबत सी टालने का प्रयत्न किया। पर ननकू अपनी जगह जमा रहा। कुछ कहना चाहता था पर कह नहीं सकता था। बास-कफन के लिये ही सही, पर था प्रश्न पैसे का। और वह मुलाज़िम था जिसे आज की सामाजिक व्यवस्था में पशु से भी अधिक बेबस और अनाथ समझना चाहिये। मरे से मरा बैल भी दो सौ तीन सौ को आता है। दाने-भूसे को रुपया-डेढ़ रुपया चाहिये। लगड़ा-लूला हो जाय तो कमसे कम कीमत के मोहवश ही मालिक उसकी चिकित्सा कराता है।

किन्तु नौकर—नौकर की क़ीमत कुछ नहीं होती। मजदूरी भी काम और क़ाबलियत का मापदन्ड नहीं है। कौन कितना बेबस है, कौन कितना असहाय है, भोर से सांझ तक खून-पसीना बहाने

पर वही उसका वेतन है। ऐसे मुलाज़िम की बीमारी और मौत से मालिक को क्या! उसे इससे क्या कि मुलाज़िम के आश्रित किस तरह भूखे-नंगे रह कर मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं। आज के इन्सान और हैवान में यही अन्तर है, नौकर और मालिक का यही फ़र्क है। एक हैं वे जो इन्सान होकर भी हैवान से बदतर ज़िन्दगी बसर करते हैं और दूसरे वे जो सभ्य समाज के नागरिक होकर भी इन्सान के वेश में निर्द्वन्द्व बनैले पशु हैं। इन्जीनियर वर्मा और उनकी पत्नी मनकू को पालतू कुत्ते से भी गया-गुज़रा समझते हैं, तभी तो उनके दुतकारने में भी उपेक्षा और घृणा की चरम सीमा दिखाई देती है। पर मनकू निश्चल खड़ा रहा।

"सुनता नहीं नालायक़।" कहकर वर्मा साहब ने उसे सर से पैर तक देखा।

"हजूर………"

"हजूर के बच्चे!"

"आप क्यों बिना वजह जी दुखा रहे हैं? मैं कहती नहीं हूँ। बस भीतर ही भीतर कुढ़ कर रह जाती हूँ। जब से इसे गाँव जाने का भूत सवार हुआ है तबसे पैसों की रट लगाये है। कुछ काम नहीं करता। बेहद लापरवाह हो गया है।"

"पैसे! पैसे कहाँ हैं?" वर्मा जी ने आश्चर्य से कहा।

"हजूर…हम डेढ़ साल से……एकओ पैसा नाहिं पाइन।" मनकू गिड़गिड़ाया।

"और यह सायकिल क्या तेरा बाप छोड़ मरा था?"

"ई हम नाहिं कहत सरकार। महिना का महिना दफदर से मिले वाला पगार आपका दिहे क चही।" मनकू ने डरते-डरते कहा।

"और इतने दिन घर कहाँ से लिया ?" गाँव से राशन-कपड़ा बाँध कर लाया होगा ? जलील, कमीने कहीं के !"

मनकू निरुत्तर हो गया। कैसे कहे कि दो जून रूखी-सूखी रोटी देकर जी-तोड़ काम लेना और ऊपर से सरकारी तनख्वाह के पचपन रुपये हर महीने हड़प जाना अन्याय है। किससे कहे कि दिन-रात खून पसीना बहाकर भी उसे तन ढकने को कपड़ा नहीं मिला। वर्मा साहब ने उसे दफ्तर में अर्दली ज़रूर करा दिया था पर क्या इसलिये कि गरीब की गाढ़ी कमाई हज़म करते रहें ? फिर उन्हें भी किसी ने नौकरी दिलाई होगी। क्या वे अपनी तनख्वाह उसी को दे आते हैं ? मनकू ने अपना सीधा-साधा तर्क भिड़ाया।

सहसा इन्जीनियर साहब ने मरहम सा लगाते हुये कहा, "भई पहिली तारीख तक रुक सको तो चार-छै रुपये का इन्तज़ाम कर दूंगा। उससे पहिले तो फूटी कौड़ी भी नहीं मिल सकती।"

वर्मा साहब की बात सरासर झूठ थी। किन्तु मनकू उसे मिथ्या नहीं कह सकता था। सारी की सारी तनख्वाह तो वही बैंक में जमा करने जाता था। फिर भी न जाने कहाँ से, बहू जी सौ-सौ के नोट हर तीसरे दिन तुड़वा मंगाती थी। हर महीने सोने के दो-चार नये गहनों को भी वह रहस्यमय ढंग से उनके शरीर पर देखता। कोई और होता तो उसे विश्वास न होता पर यह तो वह अपनी आँखों से देखता, अनुभव करता। पर हाँ, उसे इतना आश्चर्य अवश्य होता कि आखिर यह सब आता कहाँ से है ! ठेकेदारों के यहाँ से आने वाले मेवे-मिठाई वह अक्सर देखता था किन्तु सोने के भारी-भारी गहने और सौ-सौ के नोटों को उसने स्वप्न में भी न देखा था।

"तो मनकू फिर क्या तय किया ?"

"का बताई हजूर। जवसन आपकी गरजी। अब गमी का मामला हई।"

"तो क्या अभी जायगा ?"

"हां सरकार पटवारी जी आये हन हँ, घर मां लास रखी है। फिरि अउर का करी। दस, बीस, पचास जउन मिलि जाय उही से काम चलाव।"

"कह तो दिया। अभी किसी तरह काम चला लो। फिर पहिली तक कुछ कर करा देंगे।" इन्जीनियर साहब ने अपनी बात और भी स्पष्ट कर दी।

"बहुत नीक सरकार" कह कर मनकू ने ठंडी सांस ली। वर्मा साहब के पैर छूते समय उसकी आंखों से आंसू की दो गरम-गरम बूंदें ढुलक पड़ीं। चमचमाते बूट पर गिर कर वे मनकू के हृदय की भांति ही चूर-चूर हो गई।

बहू जी ने उसे अपनी तरफ आते देख पैर समेट लिये, जैसे मनकू कोई छूत का रोग हो। सम्भव है मेम साहिबा की कठोरता में छिपा नारी हृदय पिघल गया हो। जो भी हो मनकू को चलते-चलते उन्होंने जल्दी लौटने का आदेश दिया। और मनकू चला गया।

आगे-आगे पटवारी और पीछे-पीछे मनकू। शहर की चौड़ी-चौड़ी सड़कें, बिजली की बत्तियाँ मनकू की तरह निर्जीव थीं। चमचमाती कारें, जैसे उसका उपहास करतीं, शहरी सभ्यता का हार्न बजाती चली जा रही थीं। दफ्तरों के उदास बाबू, चपरासी, खोंचे वाले, कुली-कबाड़ी, स्कूली लड़के-लड़कियाँ मुरझाये से आ जा रहे थे, जैसे रविवार उनके लिये अवकाश का दिन न होकर मातम का दिन हो ! जैसे उन सभी के घर गमी हो चुकी हो। और

वे भी किसी खूनी पंजे से मुक्त होकर अपने अपने नीढ़-कोटरों में लौट रहे हों। शहर पार करते करते सांझ हो चली।

जाने पहिचाने रास्ते, सुपरिचित से मोड़, पगडंडियां सभी एक के बाद एक आते गये और मनकू पटवारी जी को लिये भरपूर शक्ति से पैडिल चलाता रहा। दोनों चुप थे। हवा, पेड़, रास्ते, जुते हुये खेत सभी मौन थे। सन्ध्या भी उदास थी। निर्जीव तलैया के पानी में उदास झुरमुटों का साया झांक रहा था और मनकू की सजल आंखों में उसके जीवन का अंधियारा!

गांव पहुँचते पहुँचते शहर की चकाचौंध की तरह मनकू के चिरसंचित स्वप्न और अभिलाषायें भी उससे विदा ले गई। कागज़ के चन्द टुकड़ों के बलबूते उसने जिस महल की योजना बनाई थी वह कागज की नाव से भी अस्थिर सिद्ध हुई। वह अब अकेला था—एकदम असहाय। रोने-धोने से ही दिन बीत रहे थे। उसके सम्मुख पहिली तारीख की मृगतृष्णा न थी, था तो तेरहवीं का प्रश्न, नाते-रिश्तेदार और बामनों का दल।

सौ रुपल्ली की सायकिल यों बड़ी चीज नहीं है किन्तु मनकू के लिये वह डेढ़ बरस की कठिन तपस्या थी। भोज देने के लिये उसके पास क्या धरा था। अपने निज के बैल भी न थे। होते तो उसका बाप ही बटाई पर धरती क्यों उठाता? जीवन में पग-पग पर आ अड़ने वाले अभाव ही मनकू को विरासत में मिले।

अभाव और निराशा के यही थपेड़े सहते-सहते मनुष्य उन्हें झेलने का आदी हो जाता है। वर्तमान से वह जूझता है केवल भविष्य की आशा लेकर। उसी के लिये वह गांठ की अन्तिम पाई खर्च कर डालता है। विश्वास और आशा के यही तन्तु उसकी

आत्मा को शरीर की ठठरी से बांधे रहते हैं। जब तक स्नेह और आकांक्षा के यह बन्धन शेष रहते हैं मनुष्य मृत्यु से डरता है। यही है श्रमजीवी की कहानी और उसके जीवन-संघर्षों का रहस्य।

सायकिल बेचते हुये भी मनकू को दुःख होता था क्योंकि सायकिल के एक-एक पुर्जे में उसकी भावनायें बँधी थीं। निर्जीव और जड़ पदार्थों में मोह का कारण हमारी भावनायें ही तो हैं। अतएव मनकू ने कर्ज ही ले लिया। फसल पर मूल और सूद दोनों चुकाने का वायदा करके उसने हिन्दू समाज के एक सड़े-गले संस्कार को निभाया।

तेरहवीं के बाद भी वह शहर न जा सका। उसकी बेबसी और आर्थिक संघर्षों ने उससे बार-बार कहा, "मनकू शहर लौट जाओ। शायद पहिली तारीख को कुछ मिल जाय। कुछ न भी मिलेगा तो रोज-रोज की हाय-हाय से ही बच जाओगे। भूखे बच्चे तो आँखों के सामने न होंगे। दिन-रात रोते रहने वाली महरारू भी न होगी। इनकी चिन्ता क्यों करते हो? समझ क्यों नहीं लेते कि तुम हो ही नहीं। जिस परमेश्वर ने इन्हें बनाया है वही खिला-पिला कर जिन्दा भी रखेगा। जाओ तुम भी शहर में रह कर अपने संचित कर्मों का फल भोगो। सभी अकेले आये हैं। सबको अपने-अपने भाग्य का फल मिलेगा। यही विधि का विधान है मनकू।

किन्तु ग्रामीणों के परम्परागत दार्शनिक-सिद्धान्त मनकू के मन से शहर की भयंकरता दूर न कर सके और वह गाँव में ही टिकने के निश्चय पर डटा रहा। पत्नी का आग्रह उसने मान लिया और बूढ़े बाप ने जिस धरती को जोत कर तैयार किया था उसी में बीज बो दिया। किसान की बलवती आशा लेकर वह रात-दिन 'चिरी-चाँगुली' के विनाश से खेती की रक्षा करता रहा। मट्टी से फूटने

वाले इन नये किल्लों की जड़ें धरती में थीं। भला सरकारी नौकरी की अस्थिरता और पगार की मृगतृष्णा का इससे क्या मुकाबला ! मनकू की आंखों में लहलहाती फसलें और सुनहरा खलिहान नाच उठा।

और वर्मा दम्पति को लग रहा था जैसे उनके जाल में फँसी कोई बड़ी मछली निकल भागी हो। मनकू को एक पखवाड़ा लग जाना तो स्वाभाविक ही था किन्तु वह लौटा नहीं। एक महीने से अधिक हो गया था। एक-दो लोगों से कहलवाया भी पर मनकू ने स्पष्ट शब्दों में 'ना' कह दिया। पैसों का लालच देने पर भी वह न लौटा। वर्मा जी ने सोचा, "गँवार आदमी है। लातों का देव बातों से क्यों मानने लगा !"

इसी उधेड़बुन में एक दिन मेज की दराज में बिछे एक कागज पर उनकी दृष्टि पड़ी। कोई छै महीने पहिले वर्मा साहब की बदली हुई थी। तभी मनकू चुंगी से यह फार्म लाया था। सायकिल की रजिस्ट्री के लिये नम्बर आदि सभी कुछ उस पर दर्ज थे। वर्मा महाशय को जैसे लौटरी मिल गई। उठाई कार चल दिये थाने। बाकायदे नम्बर और मेक देकर चोरी की नामजद रिपोर्ट दर्ज करा दी। मन ही मन प्रसन्न होते घर लौटे और मनकू को भी एक पत्र लिख दिया, "एक हफ्ते के भीतर सायकिल दे जाओ, वर्ना रपट लिखा दी जायगी।"

सोचा, "अब देखूं कैसे न आयगा ? पहिले तो पुलिस ही अक्ल ठिकाने लगा देगी। बस फिर कभी गाँव का नाम न लेगा।" इन्जीनियर साहब के मस्तिष्क में मनकू का अपराधी पहलू ही घूमता रहा। "आखिर सारा काम-काज अकेला ही समेटता था। आधी रात भी उसने किसी काम को मना नहीं किया। लेता भी क्या था ? उल्टे पचपन रुपये माहवार देता ही था।"

"और सूखी रोटी पर आदमी कहां, अच्छा कुत्ता भी मुश्किल से ही रह सकेगा।" उन्होंने हिसाब लगाया। श्रीमती जी को कारगुज़ारी बताई तो वह भी फुन कर कुप्पा हो गई। एक के बाद एक दिन बीत रहा था और वर्मा दम्पति इसी प्रतीक्षा में थे कब मनकू उनके सम्मुख अपराधी की भांति आये। फिर नोटिस की म्याद के भीतर ही वह एक दिन सायकिल दे गया, लेकिन न उसने वेतन का तकाज़ा किया और न कफ़ने पर ही रज़ामन्द हुआ।

रपट दर्ज कराये भी एक सप्ताह से ऊपर हो चुका था। सूर्यास्त निकट था। सपत्नीक वर्मा जी कोठी के लान में बैठे मित्रों से गप-शप कर रहे थे। तभी एक पुलिस अफ़सर ने कोई दस क़दम के फ़ासले से कहा, "माफ कीजिये। मैं मिस्टर वर्मा से मिलना चाहता हूँ।"

"तशरीफ़ लाइये।" कुर्सी खिसकाते हुये इन्जीनियर साहब ने कहा, "मुझे वर्मा कहते हैं।"

"ग्लैड टू सी यू।"

"सो एम आय। कहिये कैसे तकलीफ़ की।"

"अजी तकलीफ कैसी। आय हैव कम आन ड्यूटी। तो खैर। मुझे आपसे यह मालूम करना है कि पिछली तेइस तारीख को आपने हसनगंज थाने में कोई रिपोर्ट दर्ज कराई थी?"

"जी हाँ।"

"यह लिखावट और दस्तखत आपके हैं?" रजिस्टर बढ़ाते हुये पुलिस अधिकारी ने पूछा,

"जी हाँ......।"

इन्जीनियर साहब की बात पूरी भी न हो पाई थी कि निकट बैठे एक मित्र ने श्रीमती वर्मा से प्रश्न किया, "उसी सायकिल की है जिसे आपका नौकर ले भागा था?"

"जी वही। आजकल भले का जमाना नहीं है। भला बताइये पुराने नौकरों की यह हालत है। रपट का डर न होता तो लौटता भी नहीं।" श्रीमती जी ने दुखियाते हुये कहा।

"बजा है। तब क्या सायकिल आपको वापिस मिल गई?" थानेदार ने पूछा।

"जी हाँ। यहतो मुझे शुरू में ही कहना चाहिये था। खैर! आपकी तकलीफ़ बच गई।" वर्मा जी बोले।

"ऐसे मामलों में आसानी से जान कहाँ छूटती है। खानापुरी मुकम्मल करने का झंझट तो रह ही गया और अभी हमारी तफ़तीश भी अधूरी है।"

"अब उसमें क्या रह गया?" वर्मा जी ने मुंह फैलाया, जैसे स्वयं ही प्रश्न-सूचक चिन्ह हों।

"मुजरिम को तो कुछ भी सजा नहीं मिली।" पास बैठे जुडिशियल मजिस्ट्रेट काजिमी साहब ने फैसला सा सुनाया।

"मुनासिब है काजिमी साहब।" इन्जीनियर साहब ने सहमति व्यक्त की। शायद मनकू को अब तक मिली सजा उनकी राय में काफ़ी न थी।

"वर्मा साहब सायकिल का नम्बर तो आपके पास नोट होगा ही। जरा देख लीजिये, नम्बर देने में कोई ग़लती तो नहीं हुई?" थानेदार ने विनम्रता-पूर्वक कहा।

"बहुत बहतर।" कह कर वर्मा जी अन्दर चले गये।

"जरा यह तो बतायें इन्सपैक्टर साहब, वह नालायक मनकू गिरफ्तार भी हुआ या नहीं?" श्रीमती वर्मा ने प्रश्न किया।

थानेदार जैसे चौंक पड़ा! पास खड़े सिपाहियों पर दृष्टि

डालते हुये उसने कहा, "मुजरिम को गिरफ्तार करने के लिये ही हम लोग रवाना हुये हैं।"

इन्जीनियर वर्मा जूते चटखाते हुये बाहर आये और हैड-कानिस्टबिल के हाथ में हथकड़ी खड़खड़ा उठी।

"ठीक है।" सायकिल का हैण्डिल थामते हुये थानेदार बोला, "नम्बर तो आपने ठीक ही दर्ज किया होगा। लेकिन क्या आप बता सकते हैं यह सायकिल आपने कब खरीदी थी?"

"जी मेरे पास क़रीब साल भर से है।" वर्मा जी का गला जैसे सूख गया।

"मैं पूछता हूँ आपने कब खरीदी थी?"

"यहाँ आने से पहिले मैं कानपुर पी. डब्लू. डी. में था।"

"यह मैं नहीं पूछता कि आप पहिले कहाँ थे, अब कहाँ हैं और आगे कहाँ होंगे? मैं जानना चाहता हूँ आपने यह सायकिल कब और कहाँ से खरीदी थी?" थानेदार का स्वर उत्तेजनापूर्ण हो उठा। श्री और श्रीमती वर्मा का चेहरा फक होता जा रहा था। और निकट बैठे मित्रगण हतबुद्धि से सब कुछ देख सुन रहे थे, जैसे कोई स्वप्न देख रहे हों!

इन्जीनियर वर्मा की ज़बान को लक्वा सा लग गया था। खरीदी होती तो बताते। उनके कहने पर एक ठेकेदार ने भेंट दी थी। लेकिन यह भी कोई कहने की बात थी। ऐसी न जाने कितनी चीज़ें हमारे अफ़सरों के यहाँ आती-जाती हैं। कौन उनका हिसाब लेता-देता है। छोटा-मोटा सब-इन्सपैक्टर होता तो बात दूसरी थी। मगर वह तो शहर का सीनियर थानेदार था, खुफिया का इन्चार्ज। और बराबर बैठे सिटी मजिस्ट्रेट काज़िमी साहब बड़े ध्यान से सुन रहे थे।

वर्मा जी बैठे-बैठे गणित का कोई जटिल प्रश्न सा हल कर रहे थे। तभी थानेदार ने दूसरा प्रश्न किया, "लाइये कोई रसीद-वसीद है ?"

"जी रसीद ?" वर्मा जी इतना ही कह सके और मिसेज़ वर्मा तो जैसे मुर्झा गईं !

"वर्मा साहब यह सायकिल जिसे आपने अपना कुबूल किया है, पिछले साल इलाहाबाद से चोरी गई थी। उन साहब ने कम्पनी की रसीद, चुंगी की रजिस्ट्री और जो दूसरे तहरीरी सुबूत दाखिल किये हैं उनसे साफ़ ज़ाहिर है कि उन्ही की है। चुनांचे आप समझ लीजिये.........." कह कर थानेदार ने श्रीमती वर्मा पर अर्थपूर्ण दृष्टि डाली।

काज़मी साहब अब भी खामोश थे। और वर्मा जी के माथे पर पसीना झलक उठा था।

"माफ़ कीजिये मेरी तबियत ठीक नही है।" पसीना पोछते हुये इन्जीनियर वर्मा ने कहा, "आप मुझसे इस बारे मे कल किसी वक्त मिल लीजिये।"

"ज़रा इस परवाने पर भी निगाह डाल लीजिये।" काज़मी साहब के दस्तखत और मोहर से जारी हुआ वारण्ट थमाते हुये थानेदार मुस्कराया।

"जनाब यह सायकिल तो आपको राल्स रायस से भी ज्यादा महँगी पड़ गई।" काज़मी साहब ने धीरे से कहा और हैड-कानिस्टबिल के हाथ में हथकड़ियाँ खनक उठी।

•

नई ज़िन्दगी

"मैं कहता हूँ लड़का होगा," नन्दू ने कम्वल समेटते हुये कहा।

"लड़का होगा तेरे कहने से," अम्माँ वोली, "सब लच्छन लड़की के हैं। चेहरे पर चमक है। पेड़ू पर खड़ी लकीर नहीं है। लड़के को भला कहीं इतनी पीरें होती हैं!"

"पहिला वच्चा है। दर्द तो होगा ही।" शिवदा ने शान्त भाव से कहा और दीदी को जैसे शह मिल गई।

"सपने में झउआ भर आम और चौमुखा दिया देखा है मैंने। लड़का होगा। मेरा मन कहता है।" वह वोलीं।

"मनचीता हो जाय वेटी, तो किसी के घर विटिया न आये।" अम्माँ ने तर्क उठाया।

"अच्छा भर पेट खीर की रही। लड़का हो तो अम्माँ की तरफ से। लड़की हो तो दीदी की तरफ से।" जवाहर भाई ने होठों पर जीभ फेरी।

"हाँ हाँ, चित्त भी तेरी पट्ट भी तेरी, टइयाँ तेरे बाप का।" शिवदा ने चुटकी ली, "तूने दोनों तरफ से खीर का प्रबन्ध कर लिया।"

"खीर तो बच्चे को भी खिलानी चाहिये दादा ! वरना गौतम की तरह ज्ञानी कैसे होगा ?" जवाहर भाई आँखें नचाते हुये बोले, "खीर चीज़ ही ऐसी है। देखिये न भगवान विष्णु ने भी कहाँ शय्या लगाई है—खीर सागर में।" और सब लोग ठहाका मार कर हँस पड़े।

"इस बच्चे का ब्रहस्पति बड़ा प्रोनाउन्सूड होगा।" सिद्धे भाई बोले, "माउण्ट ऑफ लूना देखना इसका। मत्स्य रेखा देखते ही बनेगी। और फ़ेट लाइन "...."

"फ़ेट-वेट छोड़िये।" नन्दू ने बीच में ही टोकते हुये कहा, "वह कलाकार बनेगा—नर्तक या संगीतज्ञ। चितेरा भी हो सकता है, लेकिन होगा ए-वन।"

"गवैया नचैया न बनायेंगे उसे," अम्माँ ने मुँह बनाया, "यह काम भले लोगों के नहीं हैं।"

"तो फिर वह पुश्किन जैसा महान लेखक बनेगा।" ललित भाई ने अभिमान से सिर उठाया।

"ना बेटा ! तब तो अपने बाप की तरह वह भी पैसे-पैसे से तंग रहेगा। हम तो उसे दीवान-दारोग़ा बनायेंगे।" अम्माँ ने फ़ैसला सुनाया।

"पर आप तो कहती हैं लड़की होगी।" दीदी बोली।

"अरे हाँ, यह तो मैं भूल ही गई। वह सीता-सावित्री बनेगी।"

"लेकिन सीता के लिये राम बड़ी मुश्किल से मिलता है आज-कल। ढंग के सत्यभान को दस हज़ार और मोटर चाहिये।" जवाहर भाई ने कुछ ऐसा मुँह बनाया जैसे कन्यादान कर रहे हों।

"चाहे लड़का हो चाहे लड़की, उसे डाक्टर बनाना चाहिये। डाक्टर कल्लू की तरह सब के काम तो आयेगा।" ललित भाई बोले। अपनी राय के समर्थन में वे शायद और भी कुछ कहना चाहते थे, लेकिन किसी प्रसविनी माता के चीत्कार को सुनकर सब चुप हो रहे।

और मैं सोचने लगा। यह गीता तो नहीं है। गीता नहीं हो सकती। वह इतने जोर से चीख कहां सकती है? लेकिन क्या पता वही हो! बेचारी छटपटा रही होगी लेबर रूम में। घर का कोई भी तो नहीं है उसके पास। अच्छा होता डिलीवरी घर पर ही होती। हममें से कोई तो रहता उसके पास। अपनों की मौजूदगी मात्र से बड़ा बल मिलता है। नर्सों और डाक्टरों के लिये तो यह रोज़मर्रा का काम है। दर्द देखते-देखते वह बेदर्द हो जाते हैं। और यह जनरल वार्ड है। यहां कोई किसी का पुरसां-हाल नहीं है। चार दफा कहो, दस बार मिन्नतें-चिरौरियाँ करो, यहाँ कोई पानी-पेशाब की भी खबर लेने वाला नहीं है। लेकिन अब तो यहाँ आ ही गये हैं। घर पर नाइन-भंगिन से बच्चा जनवाने से तो यह लाख दर्जा अच्छा है।

लगता है बच्चा हो गया है। यह शायद उसी का पहिला रुदन है। अस्पताल की दुर्दशा देखकर रो रहा है। बच्चे तो घर पर भी रोते हैं। वे सब जगह रोते हैं। शायद दुनियाँ का दुःख देखकर रोते हैं। या शायद पेट की क़ैद याद करके रोते हों। नहीं रोते तो उन्हें मार-मार कर रुलाया जाता है—दुनियाँ का यही दस्तूर है। सब बच्चे एक ही तरह रोते हैं। उनकी आवाज़ से कोई तमीज़ नहीं की जा सकती। देखने में वे सब क़रीब-क़रीब एक से होते हैं। उनके माथों पर न त्रिपुंड होते है न चोटियाँ। मुल्लाओं जैसी दाढ़ियाँ या सरदारों जैसे जूड़े भी नहीं होते।

पोशाक से किसी की शिनाख़्त नहीं हो सकती। सब के सब निरावरण नंगे होते हैं।

बेचारे एकदम भोले और नासमझ होते हैं। न कुछ कह सकते हैं न कुछ सोच सकते हैं। न खुद को जानते हैं न अपने माँ-बाप को। ऐसे ही बच्चे बदल जाते हैं। जान-बूझ कर तो कोई न बदलता होगा। जन्मते ही बच्चा उसकी माँ को दिखाया जाता है। फिर उसके हाथ पर एक पर्चा बाँध दिया जाता है। और ऐतिहात होता है। मेरा बच्चा कहीं बदल न जाय। लड़के के बदले कहीं कोई लड़की न मढ़ दे हमारे मत्थे। लेकिन यह नहीं हो सकता। हो जाय तो हम कुछ कर भी नहीं सकते। गीता समझदार है। वह ऐसा होने नहीं देगी।

बच्चे का रंग—गोरा-चिट्टा होगा। उसकी माँ भी तो कुन्दन की तरह साफ़ है। गीता जैसी बड़ी बड़ी आँखें होंगी उसकी—नाक-नकशा, सीरत और सूरत—हर नज़र से दुरुस्त होगा, मेरा बेटा! मेरा लाल! मैं चाहता हूँ वह सूर के कन्हैया जैसा हो। स्वस्थ हो। सुखी हो। गौतम और गांधी बने। पुश्किन और प्रेमचन्द बने। लेनिन और लिंकन बने। मैं चाहता हूँ, वह बहुत बड़ा आदमी बने—मार्क्स जैसा मनीषी बने। शिवदा की तरह हम सब की श्रद्धा का पात्र हो और यशपाल की तरह प्रतिभाशाली। वह यशस्वी हो, चिरञ्जीवी हो। सब का प्यारा हो, सब के काम आये। दुनियां में उसका आना सार्थक हो। वह महापुरुष बने तो हम धन्य हो जायं।

"अम्माँ की खुशी का ठिकाना न रहेगा। वह उन्हें तंग भी करेगा तो भी वह खुश होंगी। गीता अब कोरी पत्नी ही न रहेगी। वह माँ बनेगी—गौरवशालिनी माँ। माँ का दर्जा बहुत बड़ा होता है। वह अपने एक एक बूंद लहू से बूंद को समुद्र बना देती है। प्रसव

की पीड़ा ! ओफ़ ! पुरुष उसे क्या जाने। मनु ने नारी का माँ रूप नहीं देखा था शायद। नारी का यह रूप न देखने वाले ऋषि नालायक होते थे। देवताओं के प्रसाद से सीप या कमण्डल में क़तरे से इन्सान बनते थे।"

मेरे विचारों का यह क्रम अबाधिगति से चलता रहा। चलता रहा, उस समय तक जब तक कि मेरी नींद ऊँघ में नहीं बदल गई। लेकिन भोर की पहिली किरन के साथ, एक चीख़ के साथ जब मेरी आँख खुली तो मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। जुबान सूखकर तालू से लग गई थी। मेरी देह बुरी तरह काँप रही थी और परिजन-मित्र, जो नई जिन्दगी के बारे में बातचीत कर रहे थे, मेरा मुँह घूर रहे थे।

"मैंने एक बहुत बुरा सपना देखा है," मैंने कहा, "मुझे एक साथ बहुत से हवाई जहाजों की घरघराहट सुनाई पड़ी। वह आवाज तेज़ होती गई। लगा जैसे वह सब घर की छत पर गिर पड़ेंगे। घबरा कर मैंने माँ को आवाज़ दी। गीता को आवाज़ दी। लेकिन वे अपने काम में लगी थीं। माँ पूजा कर रही थीं। गीता बच्चे के दस्ताने बिनने में मशग़ूल थी। मैं दो बार चीखा लेकिन किसी ने जवाब नहीं दिया। मेरी आवाज़ शायद सुनाई नहीं पड़ी उन्हें। मैं कमरे से बाहर आया तो बड़े ज़ोर का धमाका सुनाई पड़ा। बग़ीचे में धुँये के अलावा और कुछ भी दिखाई न दे रहा था। मेरे लगाये गुलाब और बेले कुछ भी नहीं दिखाई दिये। घर भी धुयें में खो गया था। मेरा दम घुटा जा रहा था। सड़क की तरफ भागा तो पैर से कोई चीज़ टकराई। मैंने उसे उठाया। वह पड़ोस के एक बच्चे का खिलौना था।

"मैं घर की तरफ लौटा तो लड़खड़ा कर गिर पड़ा। वह ध्वस्त हो चुका था। मलबे का एक ढेर था। मैं सन्न रह गया। मैंने

माँ को और गीता को बार-बार पुकारा। वे बोलीं नहीं। मलवे को रौंदता हुआ मैं पूजा-घर की तरफ गया। वह कमरा सिर्फ़ आधा ही गिरा था। माँ का शरीर मलवे से दब गया था। पूजा की चौकी पर सिर टिकाये वह निर्जीव पड़ी थी। उनके सर को हाथ लगाते ही मेरे हाथ भीग गये। यह शायद उनका लहू था। मेरी माँ का लहू ········मेरी माँ का, जिन्होने चक्की पीस-पीस कर मुझे पाला और पढाया है। मेरी माँ। मेरी अम्माँ। उन्हें छोड़कर मैं गीता के कमरे की तरफ गया। वह पूरे तौर से दब गई थी। लेकिन उसका एक हाथ मलबे के ढेर से बाहर निकला हुआ था। उसकी उगलियों मे बच्चे का अधूरा दस्ताना था। और····· और मैंने पड़ोसियों को आवाज़ दी। लेकिन हर तरफ से बढ़ती हुई आग की लपटें मेरी तरफ आ रही थी। मैं झुलस गया और मेरा गला सूख रहा है। मैंने माँ की गोद मे सिर टिकाते-टिकाते कहा।

सब लोग मिट्टी के बेजान पुतलों की तरह सुनते रहे—गुमसुम, उदास। सिर्फ़ माँ मे हरकत बाक़ी थी। वह मेरे माथे पर हाथ फेरती रही। उनकी आँखों से आँसुओं की कुछ बूँदें मेरी कनपटी पर ढुलक पड़ी और फिर सब की आँखें नम हो गईं, जैसे बरसात में बहुत से बाँध एक साथ टूट पड़े हों।

आँखों से आँसू पोंछते हुये नन्दू ने पूछा, "यह जहाज़ किसके थे ?"

लेकिन इससे पेश्तर कि मैं कुछ कह पाता, जवाहर भाई बोले, "साम्राजियों के रहे होंगे। वही साले·········"

"कह नहीं सकता। मैं उन्हें देख नही पाया। धुँआ बहुत था।" पानी का पूरा गिलास हलक मे उड़ेलते हुये मैंने कहा, "वह बम्बार थे।"

"जाहिर है," शिवदा ने आहिस्ता-अहिस्ता कहा, "बम या बम्बार किसी के भी हों वह हमेशा तबाहकुन होते हैं। उनके पीछे

इरादे चाहे जो हों, लेकिन यह निश्चित है कि वह खेत-खलिहानों को खाक कर देते हैं। कल-कारखानों को मिट्टी में मिला देते हैं। उनकी मार से मन्दिर-मसजिद, अस्पताल और स्कूल, संग्रहालय और कला-केन्द्र सभी नष्ट हो जाते हैं। और अब, बम्बारी का मतलब है सर्वनाश! दुनियां से इन्सान और इन्सानियत का खात्मा!"

"फिर बड़े बड़े देशों के राजा यह पागलपन क्यों करते हैं? नाश जाय इनका! दाढ़ीजार", दीदी ने सिसकियां लेते हुये पूछा, "परजा का नास करके राज किस पर करेंगे, हत्यारे?"

"क्या ऐसा नहीं हो सकता कि लड़ाई न हो? गोला-बारी न हो? बम ही न बनें?" नन्दू ने प्रश्न किया।

"हो क्यों नहीं सकता। जिन्हें जिन्दगी से प्यार है अगर वे चाहें तो लड़ाई हरगिज़ न होगी........" शिवदा बोले।

उनकी बात पूरी होने से पहिले ही मां कहने लगीं, "हां हां मुझे जिन्दगी प्यारी है, नई जिन्दगी भी। दादा मूल से प्यारी ब्याज होती है।"

"जिन्दगी से हमें भी प्यार है," ललित भाई ने कहा, "उसके लिये हम सब कुछ करने को तैयार हैं।"

"तो फिर मिठाई मंगाइये," नर्स ने मुस्कराते हुये कहा, "लड़का हुआ है।"

"कलाकार!" नन्दू ने मचलते हुये कहा, "तब तो खीर बनेगी।"

सपरिवार प्रार्थनीय

शरारत इकतर्फा थी या दुतर्फा कहना जरा मुश्किल है। वस्तुतः शरारत थी भी या संयोग, कहा नहीं जा सकता। सम्भव है किसी ठेस की प्रतिक्रिया इसी रूप में प्रस्फुटित हुई हो—क्योंकि किस इन्सान की कब क्या प्रतिक्रिया होगी इसका मनोविज्ञान के साधारण नियमों से सही अनुमान लगा पाना बहुत मुश्किल नहीं तो आसान भी नहीं है।

जाहिरा तौर पर उनका साहचर्य घनिष्ठता में बदल चुका था। इससे किसी को ईर्ष्या होती या किन्हीं को रूढ़िवादी मान्यताओं को ठेस पहुँचती या फिर किन्हीं को प्रेरणा मिलती—यदि कुछ देर के लिये इसे नजरन्दाज कर भी दिया जाय—तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे एक दूसरे की मित्रता के, सामान्य मापदंडों से भी, अच्छे पात्र थे।

दोनों जिन्दगी के एक मीठे युग से गुजर रहे थे—उस युग से जब सपनों की सुनहरी साया में जिन्दगी की बहुत सी सचाइयां आंखों से ओझिल हो जाती हैं। अन्तस के कैनवस पर जब कल्पना की तूलिका हुस्न और प्यार के रंग भरने लगती है। हृदय की धड़कनें जब प्रतिपल साध्य के गीत गाया करती हैं। यही थी वय-सन्धि की वह नाजुक उम्र जिसकी देहली उन्होंने पार की थी।

देखने में सुजाता कोई परीज़ाद रही हो, ऐसी बात न थी। मगर हां, उसके तौर तरीक़ों की दाद ज़रूर देनी पड़ेगी जिन्हें पाकर कोई भी लड़की एक समझदार के दिल में जगह बना सकती है। शायद यही वह शालीनता थी जो उसे नितीन के इतना करीब ला सकी। पत्नी के रूप में उसे पाकर नितीन का व्यक्तित्व और भी निखर उठेगा इसमें किसी को सन्देह न था।

स्वयं सुजाता किसी मुग़ालते में रही हो, यौवन के उन्माद या भावुकता में वह गई हो—ऐसी बात न थी। वह जानती थी कि नितीन क्या है, कैसा है, क्या उसकी आर्थिक स्थिति है और क्या उसकी ज़िम्मेवारियां हैं। मगर फिर भी वह नितीन में अपना भावी पति देखती तो इसलिये कि उसे विश्वास था कि उसके साथ वह खुश रह सकेगी, उससे कुछ पा सकेगी—ऐसा जो शायद कोई सम्पन्न, पति बनकर भी उसे न दे पाये।

इम्तिहान के बाद जब वह घर जाने लगी तब भी वह अपने साथ एक निश्चय और एक खुशी लेकर गई। शादी की सिर्फ तारीख ही तय होना बाकी था। मां-बाप की तरफ से—जो आर्य-समाजी ख्याल के लोग थे—उसे स्वीकृति मिल ही चुकी थी। और नितीन खुश था, गोकि यह खुशी शिष्टाचार की तहों में दबी रही।

और उस दिन जब सुजाता दुल्हन के वस्त्रों में सिमटी सी, सकुचाई सी बैठी बारबार अगूठे से जमीन कुरेदने लगती थी तो साथ की लड़कियां उसे खूब खिजाती। और जब धीमें धीमें पलकें उठाकर वह पंडाल में जमा हुये लोगों पर उड़ती उड़ती निगाह डालती, तो वे भी सहेलियों से छुप न पाती। "हाय रे! ऐसा भी क्या निगोड़ी। देख लेना। खूब देखना। अब कहीं भाग थोड़े ही जायगे।"

सुजाता के चेहरे पर एक फीकी सी मुस्कराहट खेल जाती और फिर उसकी उनींदी आखें झप जाती। "गोरी हमसे......" कहती हुई कोई उसकी ठुड्डी को इशारा देती और सारे कमरे में एक क़हकहा गूँज जाता।

वह झुंझला कर हाथ झटकती तो दूसरी कहती। "करलो-करलो रिहर्सल। यह सब करना पड़ेगा।" सुजाता के गालों पर हलकी सी लालिमा दौड़ जाती और वह चूनर का छोर दातों में दबा लेती। लगता जैसे किन्ही विचारों की धार को बांध देना चाहती है।

वह दरअसल बाहर जमा हुए लोगों में नितीन को देखना चाहती थी और शायद उसी के बारे में सोच रही थी।

फिर जब विदाई के भोज में सुजाता ने नितीन को देखा तो वह बड़े अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराई। बोली—

"शुक्र है तुम्हें मेरा पत्र मिल गया।"

"पत्र भी और वह छपा हुआ निमन्त्रण भी, जिसमें मेरी उपस्थिति सपरिवार प्रार्थनीय थी।" कह कर नितीन मुस्कराया।

[प्रवासी

"इनसे तो मिल लिये हो न ?" सुजाता ने शरारत पूर्ण ढंग से कहा, "यह हैं मेरे पति क्रिस्टिन कोल।"

"जी बड़ी खुशी हुई हुई आपसे मिलकर," नितीन ने कोल साहब का हाथ, हाथ में लेते हुये कहा, "लाइये लगे हाथों इनसे भी मिला दूं।.........आप हैं मेरी पत्नी प्रतिभा डे और यह हैं आपके सुपुत्र प्रभाकर।" नितीन कहता गया, "मेरी उपस्थिति सपरिवार प्रार्थनीय थी न। इसलिये सोचा इन्हें भी लेता चलूँ।"

मुल्यांकन

"कहते कहते मेरी जुबान थक गई और तुम हो कि सुनते ही नहीं।"

"क्या माँ।" रजनी भिनभिनाया।

"धुनूँ अपना सिर! देखते नहीं बेबी की तबियत कितनी खराब है। कैसा कराह रहा है दुखिया। सारी रात बुखार रहा है। मारे खांसी के घड़ी भर को आंख नहीं लगी। पर तुम्हें क्या!"

"देख तो रहा हूँ।"

"रोज ही देखती हूँ पर अब ये सब सहा नहीं जाता। आधी रात गये लौटे और सो गये चैन की नींद।"

"चैन की नींद!" रजनी ने कहकहा लगाया, "चैन की नींद हमें कहां नसीब है। तुम सोने दो तब न?"

"अच्छी शामत हुई! बेटा बीमार है और बाप को मजाक सूझ रहा है!" नीरा ने खीजते हुये कहा।

"मजाक नहीं रानी। तुम न जगाती तो थोड़ी देर और सो लेता। कैसी मीठी नींद थी और कितना प्यारा सपना।" रजनी ने सफाई दी।

"सोते में सपने देखा करो और जब दिन चढ़े कोई जगा दे तो चाय पीकर बैठ जाया करो कागज खराब करने!"

"भई वाह, खूब याद दिलाई। तुम्हारे हाथ से आज तो मिली ही नहीं……हां…बस एक प्याला, खूब गरम।" रजनी ने आंखें नचाते हुये कहा।

"चाय तो और ले आती हूँ मगर देखो आज दवा जरूर ले आना।" नीरा ने कृत्रिम नाराजगी जाहिर की।

"जरूर साहब, आपका हुकुम…और…भला किसकी मजाल है।" रजनी ने कमरे के बाहर दृष्टि फैलाते हुये कहा और तब उसकी लेखनी पूर्ववत ही छलांगे भरने लगी। हृदय के किसी कोने में दबी अनुभूतियां, अभाव से बोझिल आकांक्षायें और स्वप्निल सी कल्पनायें रोशनाई की आड़ी-तिरछी रेखाओं में व्यक्त हो उठीं।

"चाय तो ले आई। जरा जल्दी पीलो।" नीरा ने खामोशी भंग की।

"क्यों क्या बजा है?"

"ग्यारह होंगे। घड़ी क्या हुई?"

"देख लो। जेब में पड़ी होगी। चाबी लगाना तो आज भूल ही गया।"

"क्या सब लेखक आप जैसे ही होते हैं? घड़ी में चाबी भी उनकी बीवियाँ लगाती होंगी!"

"हाँ, नीरा। कलाकार तो बच्चों की तरह मासूम होता है। उसकी देखभाल के लिये तो ऐसी बीबी चाहिये…जो……"

"जो वक्त से खाना खिला दे, कपड़े पहिना दे और खर्च का नाम भी न ले। क्यों यही न ?" नीरा ने बात काटते हुये कहा।

"तुम भी क्या छोटी बात करती हो नीरु। उसकी कृति का एक एक शब्द अमूल्य होता है।"

"होगा।- किये जाओ कागज खराब। वाहवाही वाले हजार हैं। फूटी कौड़ी देने वाला एक नहीं।" नीरा ने मुंह बनाया।

"तुम हो तो मेरी रानी। मेरी साधना के लिये तुमने क्या नहीं किया ?" रजनी ने खुशामदाना स्वर मे कहा, "मेरी कृति तुम नहीं जानती नीरा" मैं तुम्हें"…… " और नीरा के उदास कपोलों पर उसने हलकी सी चपत जमा दी।

"छोड़ो भी अपनी शेखियाँ।" नीरा ने झगड़ना शुरू किया, "कहाँ से सीख आये हो जान छुड़ाने का यह नुस्खा ?"

"नुस्खा ! नीरु, मैं धूम मचा दूंगा…… साहित्य संसार में मेरा नाम……कला की तारीख में अमर हो जायेंगे हम। और लोग पूछेंगे……कौन है यह सौभाग्यशालिनी ? मैं कहूँगा, मेरी नीरा……जिसे जीवन की सर्वश्रेष्ठ कृति……।"

"देख आओ। वर्ना रद्दी कागज का एक पुलिंदा और सही। तब शायद भूत उतर जाय।" नीरा ने लापरवाही से कहा।

"उनका भी वक्त आयगा…… उनमें मैं बहुत आगे बढ़ गया हूँ…और……"

"अच्छा अब छोड़ो अपनी राम कहानी और……।" हाथ से लेखनी लेते हुये नीरा ने व्यग्रता व्यक्त की।

"बहुत अच्छा मेरी सरकार।"नीरा की आँखों में आँखें डालते हुये उसने कहा, "और कुछ आज्ञा ?"

"आशा ?" नीरा की आंखें क्षण भर को चमक उठीं और दूसरे ही क्षण उसके माथे पर चिन्ता और नैराश्य की मिलीजुली रेखायें उभर आईं और वह उदास होकर कमरे से बाहर हो गई।

और रजनी हतबुद्धि सा सोचता रहा, "कैसा है यह साहित्यिक जीवन। पग पग पर अभाव की ठोकरें। उठते बैठते, घर बाहर से तानों की बौछारें। लोग कहते हैं जब साहित्य-जीवी इन्हें सह कर भी विचलित नहीं होता तब उसकी मंजिल आसान हो जाती है। किन्तु जीवनयापन ? कितना जटिल प्रश्न है। जीना ? और उससे भी कठिन मौत, और इन्सान जिन्दगी और मौत की धूपछांह में अपने गिनेचुने दिन पूरे करता है।"

"सोच क्या रहे हो ?" नीरा ने टोकते हुये कहा, "यह रहा दवा का पर्चा।" और उसने रजनी के हाथ में दवा का प्रेस्क्रिप्शन थमा दिया।

"क्या बताऊँ नीरू ! दवा के लिये पैसे भी तो चाहियें।"

"इतने सारे दोस्त हैं। किसी से मांग क्यों नहीं लेते ? आखिर फिर कब काम आयेंगे ?"

"उन बेचारों की अपनी उलझनें क्या कम हैं। घर घर मिट्टी का चूल्हा है। न जाने कौन कैसे दावे ढांके बैठा है। कपड़े ज़रूर उजले हैं मगर पेट खाली है। किसके आगे हाथ फैलाऊँ। कुछ समझ में नहीं आता नीरू।" रजनी ने एक ठंडी साँस ली और घर से बाहर हो गया, जैसे कड़ाके की सर्दी में सूरज निकलने से पहिले ही रोज़ी तलाशने वाले मज़दूर चल पड़ते हैं।

"मगर जाऊँ कहाँ ? बच्चे को दवा चाहिये और दवा फरोश को अन्धाधुन्ध क़ीमत ? तब कहीं अस्पताल में उसकी बात पूछी जायगी।" रजनी मन ही मन तर्क वितर्क करता रहा।

"मैंने कहा बाबू जी," दबी सी आवाज में कोने वाली दूकान से पनवाड़ी चिल्लाया "पान तो खाते जाइये।" और रजनी को लगा जैसे उसने उधार का नोटिस दे दिया।

"नही भाई। अभी जरा जल्दी में हूं।" कह कर रजनी आगे बढ़ गया।

"अजी सुनिये तो 'आपही से कह रहा हूं रजनी बाबू।" परचूनिये लाला ने आवाज लगाई।

"कहो भाई सेठ ?" रजनी ने ठिठकते हुये कहा।

"कुछ नहीं। बाबू जी ··· आज कल दिखाई नही देते ··· कहीं बाहर गये थे क्या ?"

"हां तबियत जरा कुछ ··· और भाई वह तुम्हारे पैसे जल्दी मिल जायेंगे। इस बार कुछ ज्यादा देर हो गई है।"

"कोई बात नही बाबू। आ जायेंगे।" बनिये ने अपने कर्कश स्वर मे मृदुता भरते हुये कहा और रजनी ने लम्बे लम्बे डग बढ़ाये।

रजनी की तरह और भी कितने लोग अपनी अपनी पहेलियां सी बुझाते लाटूश रोड पर आ जा रहे थे। मानव जीवन सचमुच ही एक चहल पहल से भरी सड़क की भांति है जहां भांति-भांति के आकर्षण होते हैं। आगे पीछे दायें बायें खतरे होते हैं। मानव रूपी अनेक लहरें न जाने किसकी टोह मे भटकती हैं। एक दूसरे से टकराती और टूटती रहती है। न किसी का उद्‌गम निश्चित है न किसी का अन्त। लोग एक दूसरे से मिलते हैं, अलग होते हैं मन की व्यथा मन में लिये। मस्तिष्क मे कुछ ऐसे ही उलझे हुये प्रश्न लिये रजनी ने कल्पना प्रकाशन की भव्य इमारत में प्रवेश किया।

"आक्खा ··· आ ··· रजनी जी हैं। आइये आइये। कहिये

कैसे रास्ता भूल गये।" प्रकाशन के संचालक शर्मा जी ने हाथ बढ़ाते हुये कहा।

"क्या बताऊँ शर्मा जी ?" कह कर रजनी ने लम्बी सांस ली।

"कुशल तो है ?" शर्मा जी ने सहानुभूति से कहा।

"कुशल कहां शर्मा जी। बच्चे की तबियत खराब है। सोचा था आपसे भी मिलता जाऊँ। दवा लेने आया था।"

"हूं।" पान के दो बीड़े थमाते हुये शर्मा जी ने चिन्ता का प्रदर्शन किया, "अब तबियत कैसी है ? किसका इलाज कर रहे हो ?"

"रात से कुछ ज्यादा खराब है। इलाज तो यहां सरकारी अस्पताल में चलता है। प्राइवेट डाक्टरों की झोंक तो आप जानते ही हैं।"

"बात तो ठीक ही है। बड़ा अधर्म है," शर्मा जी ने घृणा से मुंह बनाते हुये कहा, "इन भले मानुषों को ईश्वर का भी भय नहीं है।"

"ईश्वर ?" रजनी ने आश्चर्य से कहा, "इनका ईश्वर तिजो-रियों में बन्द है। आपको नहीं मालूम क्या ?"

"राम राम ··· कैसा पापमय संसार है ··· हकीम वैद डाक्टर ··· पंडित मौलवी प्रोफेसर······सब के सब माया में फँस गये हैं। दया-धर्म······हे राम ··· अच्छा किया रजनी बाबू ··· अस्पताल सबसे ठीक है।"

"क्या ठीक है शर्मा जी···वहाँ की हालत और भी गई गुज़री है। अव्वल तो एक तोरई सौ मरीज का मसला है। फिर दवाइयां वहां रहतीं नहीं; और हुई भी तो हाकिम हुक्काम, डाक्टरों के दोस्त अहबाबों के लिये ही काफी नहीं होतीं।"

"ठीक कहते है आप। तो फिर आजकल क्या लिख रहे हैं?" शर्मा जी ने बातचीत का रुख बदलते हुये कहा।"

"लिखने को तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर इस हायतोबा से तो मुक्ति मिले। लेखनी का गला घोंटने को मानसिक दुश्चिन्तायें और नोन-तेल-लकड़ी की क़िल्लतें ही क्या कम हैं?"

"भई वाह! ये न हो तो लेखक लिखे क्यों? बिना इनके तो चीज में जान आ ही नही सकती रजनी बाबू। कलाकार की भूख ही तो समाज का मानसिक भोजन है।" आंखों पर सोने के फ्रेम का ऐनक चढ़ाते हुये शर्मा जी ने अपने कथन की प्रतिक्रिया देखनी चाही।

"बजा है शर्मा जी। समाज के मौजूदा ढांचे में हजारों की भूख दो-चार की तृप्ति है। लाखों की जिन्दगी चन्द हाथो का खिलौना है। पर छोड़िये इसे। मुझे कुछ पैसे चाहिये।" रजनी ने कहा।

"पैसे?"

"हां, दवा के लिये।"

"क्या बताऊँ रजनी बाबू। आप यक़ीन नहीं करेंगे, मेज का दराज खींचते हुये शर्मा जी बोले, "धन्धे को न जाने क्या हुआ है। कुछ समझ में नही आता; वरना जैसा आपका बेटा वैसा मेरा। कुछ पहिले कहा होता तो......"

"ज़रूरत मुझे आज है। क्या पता था कि हँसता खेलता बच्चा यों सरदी की चपेट में आ जायगा?" रजनी ने रुखाई से कहा, "अग्रिम मांगना आप जानते हैं मेरी आदत के खिलाफ है। मुझे आप 'सिरीज़' के खाते मे ही कुछ बन्दोबस्त कर दीजिये।"

"सिरीज! पर अभी तो इसके तीन खण्ड बाक़ी हैं। आ जायेंगे। ईश्वर जानता है। इधर काग़ज़ कम पड़ गया। जो

मैटर आप दे गये थे वहीं पड़ा है। पैसा आये तो काम चले। बड़ी उलझन है रजनी बाबू। बड़ी उलझन है।"

"पर मुझे तो सिर्फ़ बीस रुपये चाहियें। बाक़ी के लिये कुछ और देख लूंगा। शायद कोई सम्पादक ही मेहरबान हो जाय। यों वक्त से पैसा तो शायद ही कोई भला मानुष भेजता हो। इस वक्त ज़रूरत में हूँ पर उन्हें क्या मालूम? आप मुझे ज़्यादा नहीं तो पन्द्रह ही दे दीजिये। कुछ तो काम चलेगा ही।" रजनी ने खिन्नता से कहा।

'पन्द्रह!' शर्मा जी ने मुंह फैलाते हुये कहा, "इस समय तो रजनी बाबू, ईश्वर तुम्हारा भला करें, मेरे पास पन्द्रह पैसे भी न निकलेंगे। बिना पैसों के सारी डाक रुकी पड़ी है। मुझे दुःख है'''मैं'''भला कोई बात भी हो। आप अगले तीन खण्ड पूरे कर लीजिये, भगवान ने चाहा तो देर सवेर………"

"तो यह बात है शर्मा जी!" रजनी ने रुँआसा होते हुये कहा, "आपके पास पन्द्रह पैसे भी नहीं हैं?"

"होते तो भला……और आपको……राम राम……हरगिज मना न करता।"

घड़ी ने दो का घण्टा बजाया और रजनी ने अपनी राह ली। फिर वही चहल-पहल भरा बाज़ार। तेज़ दौड़ती हुई कारें…… वही इक्के वही तांगे……कुछ कुछ वैसे ही लोग, कुली कबाड़ी, झल्ली खोंचेवाले, छोटे-बड़े दुकानदार। प्रकाशक के यहाँ जाने से पहिले, काल्पनिक ही सही, एक आसरा तो था पर अब तो वह सम्बल भी टूट गया। रजनी के मस्तिष्क में कई चित्र उभरे और ग़ायब हो गये।

"कहाँ! किसके पास जाऊँ? राजे के पास ही क्यों न चलूँ? पैसे हुये तो इन्कार हरगिज नहीं करेगा," रजनी ने मन ही मन

कहा, "तिकड़मी आदमी है। बीमा एजेन्ट ठहरा। कहीं न कहीं से······उसके लिये पन्द्रह-बीस रुपये मामूली बात है।"

रजनी की आँखें प्रसन्नता और आत्मतोष से चमक उठीं। हृदय की बेचैनी कम हुई। पैरों में जान आई। काफ़ी-हाउस पहुँचने में उसे मुश्किल से पाँच-सात मिनट लगे होंगे। भाग्य की बात राजे बाबू डटे हुये थे। सिगरेट का धुँआ सारे हाल में घुमड़ रहा था।

"राजे।" रजनी ने धीरे से कहा।

"हल्लो······रजनी डियर। बैठो भाई जान," राजे ने तपाक से कुर्सी खिसकाते हुये एक प्याले के लिये आर्डर दिया।

"तकल्लुफ़ न करो राजे।"

"तकल्लुफ नहीं पार्टनर, खाओगे क्या ?"

"कुछ नहीं।"

"ओ. के सर। और हाँ, मैं तारुफ़ं कराना तो भूल ही गया। आपसे मिलिये, मिस रंजना। वायलिन बजाने में आपको कमाल हासिल है। मैरिस की स्टूडैण्ड हैं; क्या समझे ? और आप हैं मेरे लायक़ दोस्त मिस्टर प्रदीपकुमार, मशहूर उद्योगपति हुजेला साहब के साहबजादे। बचे आप, आप भी एक ही जीव हैं। मेरा मतलब है आप शहर की जान हैं; महफ़िलों की रौनक़ हैं। मैं आपको साहित्यिक मजनूँ कहता हूँ। क्या खूब लिखते हैं आप, बस·········"

"रहने दो राजे······ज़रा दम तो लो।" रजनी ने टोकते हुये कहा।

"दम ! किसका ?" कहकर राजे ने क़हक़हा लगाया।

"भई राजे मैं……असल में आख़िर इसलिये हुआ था…… कि……मैं…… कि……"

"अमां कहो भी। यहां कौन ग़ैर है?" राजे ने अन्य दो साथियों के चेहरों पर दृष्टि डालते हुये कहा।

"कहना मुझे यह है कि……अगर आप लोग आज्ञा दें तो सिर्फ़……एक मिनट के लिये इन्हें बाहर ले जाऊँ।" रजनी ने बड़ी विनम्रता से कहा।

"श्योर। श्योर।" रंजना और प्रदीप ने एक स्वर से स्वीकृति दी।

"थैंक यू।"

"हां भाई जान……" राजे ने कहा।

"ज़रा यार इधर एक तरफ़ आ आओ।"

"कुछ कहोगे भी या……"

"भई……मुझे……तुम्हें मालूम है……या शायद न मालूम हो। बेबी बीमार है। और मुझे दवा के लिये पैसे चाहियें। कुल बीस रुपये चाहिये।" रजनी ने झिझकते हुये कहा।

"बस इतनी सी बात……अफ़साना कर दिया। अभी या कुछ देर में?"

"जितनी जल्दी हो सके।"

"काफ़ी तो पियो। फिर चलते हैं। अभी ये सिल्किन सूट वाली मुर्ग़ी हलाल होती है। आये यार मौक़े से हो। प्रीमियम हाथ आने दो। बीस नहीं इक्कीस।" कह कर राजे ने रजनी के साथ हाउस में प्रवेश किया।

काफी के साथ साथ बातचीत का दौर चलता रहा। और घड़ी की सुइयाँ बड़ी तेज़ी से घूमे जा रही थीं। जैसे तैसे यहाँ से

छुट्टी हुई तो पिक्चर का प्रोग्राम बन गया। रजनी की छाती पर जैसे साँप लोट गया। अजीब उलझन! इधर पेट में चूहे कूद रहे थे उधर दिमाग़ में बीमार बच्चा तड़प रहा था।

सब का आग्रह होते हुये भी रजनी सिनेमा नहीं गया। लौट चला घर। जैसा गया था वैसा ही खाली हाथ।

डरते डरते रजनी ने घर में पैर रखा क्योंकि एक तरफ़ अस्पताल का समय निकल चुका था और दूसरे रजनी महाशय बैरंग लौटे थे। देवी जी का का शक्की स्वभाव भी रजनी से छुपा नहीं था।

"तो आ गये आप?"

"आ तो गया नीरु। बेबी की तबियत कैसी है?"

"आपकी बला से।" नीरा ने बिगड़ते हुये कहा।

"कम से कम तुम तो ऐसी बातें न किया करो। तानेज़नी के लिये और लोग ही क्या कम हैं! मेरी बेबसी जानती हो फिर भी अकारण........."

"अकारण क्यों......और कोई काम क्यों नहीं देखते।"

"मिले तब न? कौन पूछता है योग्यता!" रजनी ने दुखियाते हुये कहा।

"इतने बड़ेबड़े लोगों से मिलते हो... ...चाहो तो सिफारिश वाले हजार मिल जायें। पर हाथ फैलाना तो आप जानते ही नहीं।

"कहाँ कहाँ हाथ पसारूँ। जिनका भरोसा था वही जवाब दे गये। सब के सब दिवाला निकाले बैठे है। किसे किसे समझाऊँ। उधार वालों को या तुम्हें?" रजनी ने दयनीयता से कहा।

"जरा धीरे बोलिये।"

"साहबजादे क्या सो रहे हैं?"

"हाँ। अभी अभी सोया है। सारे दिन आप ही की रट लगाये रहा।"

"और ये दवा कहाँ से आ गई?" बच्चे के माथे पर हाथ फेरते हुये रजनी ने आश्चर्य से कहा।

"रद्दी कागज़ बिकवाये हैं। तब तो दवा मंगवाई पड़ोसी दूध वाले से।" नीरा ने अहसान सा लादा।

"रद्दी! लेकिन तुम्हें इतनी रद्दी मिल कहाँ गई?"

"यही जो अख़बार वग़ैरह पड़े थे अलमारी के निचले ख़ाने में।"

"पूरा ख़ाना साफ़ कर दिया?"

"हूँ।" नीरा ने आश्चर्य से मुँह फैलाते हुये कहा, "क्यों?"

"उसमें तो सीरीज़ के दो खण्ड थे।" रजनी ने बेचैनी से कहा।

"मुझे क्या पता था……" नीरा ने घबरा कर कहा।

"चलो ठीक है। कृति का मूल्य मुझे मिल गया। दवा से ज़्यादा मरीज़ को और क्या चाहिये?"

डाक्टर शरीन के दवाखाने में भीड़ हमेशा रहती
सहृदय हैं। पैसे से ज्यादा जिन्दगी प्यारी है उन्हें। ग
सबके लिये आधी रात हाजिर। हाथ में यश है। दवा
न हो यह कैसे हो सकता है। मगर जो भीड़ उनके द
घेरे खड़ी है वह रोज़ाना की भीड़ से मुख्तलिफ है।
कहते हैं मॉब यानी उन्मत्त भीड़—जो डाक्टर से शिफा
डाक्टर साहब की ज़िन्दगी लेने पर आमादा है।

'पवनसुत हनुमान' और 'बजरङ्गबली' की जै.
मजमे का जोश और जुनून जैसे फूटा पड़ रहा है।
"डाक्टर हत्यारा है" तो हर कोई उन्हें फांसी देने प
किस हिन्दू के मुंह पै नाक है जो जाके कहे और खुद
सबब खतरे में डाले। और किस मुसलमान को शामत
जो हिन्दुओं के मजहबी मामले में मदाखलत करे
मुसीबत को दावत दे।

क़स्बे का हर मुसलमान जानता है कि वे हिन्दुओं की क़ौम बन्दरपरस्त है। ख़ुदा आगे तब क्या हम इन्तिज़ाम कर लें। पिछले साल मुहर्रम की बात है यह ताज़िये भी जैसे जैसे ऊंचा बनते थे और वह मन्दिर के मोड़ वाला पीपल साल भर में बढ़के कुछ झूल गया। ताज़िये छोटे करना मुमकिन न था। हिन्दू पीपल कटवाने को राज़ी न थे—क्योंकि उसे वे देवी देवताओं का थान मानते हैं। घंटे भर की नागवार के बाद पीपल की डाली सहारा देकर ऊपर उठाई गई और तब ख़ुदा ख़ुदा करके ताज़िये निकले।

हिन्दू साहिबान पहिले ही दुकानें बन्द करके मजमे में आ मिले थे। भला डंडीमार बनियों को, और घी में कोकोजम मिलाने वाले लाला लोगों के लिये इससे बड़ा धरम क्या हो सकता था। मुसलमानों ने फ़िज़ां में तनाव बढ़ते देखा तो वह भी दुकानें बन्द करके टाट के पर्दों में जा छुपे। और क़स्बे के नामी-गिरामी गुण्डे बन्दर की लाश को घेरे लोगों की धार्मिकता उभार रहे थे।

डाक्टर साहिब का क़सूर था तो यह कि उन्होंने एक बन्दर को डंडा मार दिया था। और यह कोई मामूली बात न थी। राम भक्त हनुमान के ख़ानदानी किसी बन्दर की हत्या भला कोई मज़ाक है! आक़बत तक हम और हमारी औलादें उनके अहसानों से उऋण नहीं हो सकतीं। वाजर सेना और उसके कमान्डर-इन-चीफ हनुमान न होते तो लंका फतह कैसे होती! सीता माता का उद्धार कैसे होता!

इस लिहाज से लोगों का ग़ुस्सा मुनासिब भी था। वह तो कहिये लोग महज़ डाक्टर से ही बदला लेने की बात कह रहे थे। अगर कहीं वे अपनी पे आ जाते तो डाक्टर की बीवी को भी जिन्दा या मुर्दा तलब कर सकते थे। और लड़का—डाक्टर साहब का इक-

लौता बेटा-चार बरस का राजीव, वह तो पहिले ही स्वर्गीय बन्दर महोदय की कृपा से तिमञ्जिले से नीचे आ गिरा था।

शिफाखाने के फाटक बन्द थे। दीगर मरीजों और अपने जख्मी बच्चे के साथ सरीन साहब अन्दर थे और बाहर मजमे ने तूफान उठा रखा था। डाक्टर साहब पर नारों और स्पीचों का कोई असर न होते देख एक दो साहिबान कुल्हाड़ियां भी ले आये थे और अस्पताल का गेट तोड़ने में जुटे थे। किस धूम के साथ फाटक तोड़ा जा रहा!

इसी बीच चौक थाने के दरोगा जी कुछ सिपाहियों को साथ लिये आते दिखाई दिये। उन्हें देखते ही एक साथ सबकी गर्दनें घूम गई। मजमे के बीच से नारा लगा, "सरीन की लाश—लेके रहेंगे, लेके रहेंगे।"

छै फुट के दरोगा जी पर जैसे इसका कुछ असर ही नहीं हुआ। वह दनदनाते हुये फाटक की तरफ बढ़े और मजमे में काई सी फट गई।

गेट पर जो साहिबान कुल्हाड़ियां चला रहे थे—दरोगा जी को देखते ही सन्न हो गये। कुल्हाड़ियां उनके हाथ से छूट पड़ी। उन्हें खिसकते देख दरोगा साहिब ने सिपाहियों को इशारा दिया और वे नत्थी कर लिये गये। लोगों के चढ़े जोश पर जैसे पानी पड़ गया।

"क्या मामला है।" बन्दर की लाश को जूते की ठोकर से टटोलते हुये दरोगा जी ने पूछा।

सब एक दूसरे का मुह देखने लगे। किसी धर्मात्मा के मुह से बोल न फूटा।

"इसे थाने ले चलो।" दो तगड़े जवानों को उन्होंने हुक्म दिया और मजमे पर सरसरी दृष्टि डाली।

"अच्छा। आप भी मौजूद हैं यहां!" एक नामवर गुण्डे को, जो भीड़ में दुबकने की कोशिश कर रहा था, सम्बोधित करते हुये उन्होंने कहा।

बन्दर की लाश के साथ साथ वहां की भीड़ भी छँट गई। लेकिन थाने तक बहुत कम लोग पहुंचे।

दारोग़ा जी ने डाक्टर सरीन से भी मुलाक़ात की। डबडबाई आंखों से उन्होंने दरोग़ा जी पर कृतज्ञता-सूचक दृष्टि डाली और रुंधी आवाज़ में कहा, "राजीव जाता रहा। मेरा बच्चा......"

सांझ के उदास झुटपुटे में डाक्टर सरीन ने अपने इकलौते बेटे की लाश दफ़नाई और जब वे पुलिस के कुछ सिपाहियों और मित्रों के साथ श्मसान से लौट रहे थे तो क़स्बे की सड़कों से गाजे-बाजे शंख और रामधुन के साथ साथ बन्दर का सजा हुआ विमान जा रहा था।

हनुमानगढ़ी के पण्डित जी ने फ़तवा दिया है कि जब तक डाक्टर साहब इक्यावन ब्राह्मण नहीं जिवायेंगे और हुतात्मा वानर की समाधि नहीं बनवायेंगे, तब तक उनका प्रायश्चित पूरा नहीं होगा।

जब पत्थर ने शहादत दी

साँझ का धुँधलका ज्यों-ज्यों घना हो रहा था त्यों-त्यों शीराज की बेचैनी बढ़ रही थी। हृदय की तेज होती धड़कनों के साथ-साथ क्षोभ, निराशा और मायूसी के अनेक भाव उसकी आत्मा को आन्दोलित किये डाल रहे थे। जीवन की अगणित आशा-आकांक्षायें काफूर हो चुकी थीं और स्मृति पटल पर विगत और वर्तमान के अनेक धुँधले और अस्पष्ट से चित्र बन बिगड़ रहे थे; क्योंकि दिन के साथ ही मुहलत की मियाद खत्म हो रही थी। शेष था तो केवल शाही फ़ैसला—फ़ैसला, जिसकी कल्पना मृत्यु से भी अधिक भयानक थी।

और शीराज! फ़ारस के दूसरे कारीगरों की तरह दौलत और शोहरत की तमन्ना लेकर ताजमहल की कलात्मकता में अपनी तूलिका का चमत्कार दिखाने हिन्दुस्तान आया था। मादरे-वतन से दूर! इमामजदेह, दाऊद और हजरत अब्दुल अजीम के जियारत-

गाहों से दूर ! और अपनी माशूका सकीना से दूर ! सल्तनते मुग़लिया की राजधानी आगरा में, जहां कारीगरी की तारीख़ में एक नया करिश्मा पूरा होने जा रहा था, पाक मुहब्बत की यादगार को अमरत्व प्रदान किया जा रहा था।

जमुना की मनोरम पृष्ठभूमि में जहां आज ताजमहल की शानदार इमारत खड़ी हुई है—संगमरमर की आड़ी-तिरछी छोटी-बड़ी अनगिनत चट्टानें बिछी पड़ी थीं और उनके बीच जहां तहां कारीगरों के डेरे सिर उठाये, उस चांदनी रात में हिमाच्छादित शैलशिखरों की छटा पैदा कर रहे थे।

मशालों के धूमिल प्रकाश में संगतराश पत्थर तराशने में व्यस्त थे; और ऊँचे दर्जे के कारीगर पत्थर पर नक्काशी के एक से एक बढ़िया नमूने खोदने में। गुलामों के दल के दल पत्थर ढोने में लगे हुये थे। भिश्ती, बावर्ची, राज, मजूर किसी को भी दम लेने की फ़ुरसत न थी। सबके सब अपने अपने ढंग से मशगूल नज़र आ रहे थे। और मक़बरे की बुनियादें इन्क़लाब की तरह उठ रही थीं—ज़मीन की सतह से हर रोज़ उभरती आ रही थीं, किशोरी के वक्ष की तरह।

नीले आकाश में पूर्णिमा का चांद अपने पूरे वेग से दौड़ा जा रहा था। सितारे मुस्करा रहे थे और जमुना अपनी मन्थर गति से बही जा रही थी। क्षितिज में दूर तक फैले हुये वृक्षों के झुरमुट मन्त्रमुग्ध से खड़े थे। हवा के मदमस्त झोंको में एक रेशमी सिरहन बसी हुई थी और समूची फ़िज़ा में एक अजीब मादकता—धरती में, आकाश में, जमुना की लोल लहरियों में—ठीक उस मधुर प्यार जैसी मादकता, जिसे ताज के हर पत्थर में बसाने की कोशिश की जा रही थी।

लेकिन यह श्रीसौंदर्य, प्यार, सिरहन और मादकता शीराज़ के लिये न थी। वह तो अपने जज्बाती तूफ़ान में कलाकार की भावुकता और सहज मस्ती खो बैठा था। जीवन के कटुतम सत्य की ज्वाला मे उसकी अगणित आशा-अभिलाषायें, और यहां तक कि साधना भी जलकर राख हो रही थी। अपने खेमे में उदासी से मुंह लटकाये वह इस सबसे बेखबर बैठा न जाने क्या सोच रहा था।

चिराग़ के धूमिल प्रकाश में उसका उतरा हुआ चेहरा साफ दिखाई दे रहा था। पसीने से तर पेशानी और माथे पर क्षण-क्षण उभरती चिन्ता और विषाद की रेखायें थी। उसके सामने बालिश्त भर मोटी संगमरमर की एक बड़ी शिला बिछी हुई थी। शिला पर रखे खरल में एक सुनहला सा घोल था और खेमे के दूसरे कोने में बेतरतीब पड़ी कूंचियां।

शीराज़ ने सिर उठा कर घोल पर दृष्टि डाली और बहुत देर तक उसे हतबुद्धि सा एक टक देखता रहा। फिर न जाने क्या सोच कर वह उठ बैठा और अपना सामान समेटने लगा। छोटी-बड़ी, मोटी-पतली कूचियों को एक मैले से कपड़े में लपेट कर उसने अपनी मखमली बण्डी की भीतरी जेब के हवाले किया। पहिनने के चन्द कपड़े, एक छोटा सा ईरानी क़ालीन और शाल सभी को एक पोटली मे बांधा। इनके अतिरिक्त बकरे की खाल का एक थैला था और एक ईरानी सुराही।

न जाने क्यों सुराही उठाते ही उसके चेहरे पर पल भर को प्रसन्नता नाच उठी और दूसरे ही पल उसकी बड़ी बड़ी नीली आंखों से आंसू बह चले। इसके बाद वह खड़ा न रह सका और हथेलियों में सिर दबा कर वहीं बैठ गया। कौन जाने मिट्टी की उस बेजान सुराही में उसकी कौन सी भावनायें बंधी हुई थी?

और वह यूँही बैठा रहा—पहाड़ की भाँति निश्चल, सागर की तरह शान्त और सितारों के मानिन्द मौन। उसके इर्दगिर्द पत्थर पर पड़ने वाली हजारों बौछारों की आवाज में एक अजीब सा संगीत गूँज रहा था। शीराज फिर भी खामोश था। मौत और मुसीबत के साये में अदना इन्सान जब खुद को बेबस पाता है; उमंगें जब उससे विदा होती हैं; हौसला जब पस्त हो जाता है तब उसे संगीत, गुल और गौहर कुछ भी नहीं सुहाता। शीराज की यही हालत थी। रगों में दौड़ने वाला खून जैसे जमा जा रहा था।

सहसा हरकारे ने आलीजाह के आगमन की उच्च स्वर से घोषणा की और शीराज जैसे सोते से जाग पड़ा। खेमे की तरफ बढ़ती हुई सैकड़ों मशालों को देख वह उठ खड़ा हुआ। पैर बुरी तरह काँप रहे थे; सिर चकरा रहा था; लग रहा था जैसे वह अब गिरा अब गिरा। मुग़ल सम्राट जैसे-जैसे नजदीक आते जा रहे थे त्यों-त्यों शीराज की बेचैनी बढ़ती जा रही थी।

आलीजाह खेमे के बिल्कुल निकट आ गये और शीराज ने बाअदब, बामुलाहिज़ा, हस्बमामूल तीन बार सलाम झुकाया। हमेशा की तरह आज भी मुग़ल सम्राट अपने मुसाहबों, वजीरों और ग़ुलामों से घिरे हुये थे। लेकिन आज उनके चेहरे पर कुछ दूसरे ही भाव थे। भौंहें तनी हुई थीं; ग़मगीन चेहरा तमतमा उठा था। ओंठ काँप रहे थे। मगर शीराज में या किसी में भी उनसे निगाह मिलाने की जुर्रत कहाँ थी ?

"जहाँपनाह ! मुहलत की मुद्दत पूरी हो चुकी है।" एक मुसाहब ने धीमे से कहा।

"काम पूरा हुआ ?" शहनशाह ने स्वर में कर्कशता भरते हुये शीराज से सवाल किया।

"जहाँपनाह.........!" शीराज़ ने प्रकम्पित स्वर में कुछ कहना चाहा।" लेकिन चाहते हुये भी वह इससे अधिक कुछ न कह सका।

"दो मर्तबा तुम्हें मुहलत दी गई। ये तीसरी बार है। और अब तक का काम," खरल पर ठोकर जमाते हुये मुगल सम्राट बोले, "यह है!"

सारा घोल संगमरमर की उस चट्टान पर फैल गया और शीराज़ के आँसू चट्टान पर टप-टप गिरने लगे। आलीजाह को इतने पर तसल्ली न हुई थी। तब तक एक मुसाहिब बोल उठे—

"आलीजाह ये सरासर फ़रेब है। गुस्ताखी और हुकुम-उदूली की मुनासिब सज़ा मिलनी चाहिये। इन्साफ़ का तक़ाज़ा है, जहाँपनाह! ताकि दूसरों को नसीहत हो सके।"

"तुम अपना जुर्म इक़बाल करते हो?" सम्राट ने अपनी भारी-भरकम आवाज़ में कहा।

"आलीजाह........." शीराज़ नीची गर्दन किये सिर्फ़ इतना ही कह सका।

"फ़रेब और गुस्ताखी की सज़ा मौत है। हाथ-पैर बाँधकर दोज़ख के इस कुत्ते को अभी जमना में फेंक दो।" सम्राट ने फ़ैसला सुनाया।

और इससे पूर्व कि शाहँशाह के फ़ैसले पर अमल हो पाता, शीराज़ ने अपना थैला उठाकर उनके क़दमों में लौटा दिया। हज़ार से ऊपर अशर्फ़ियाँ, जो उसे अब तक मिली थीं, मशालों की तेज़ रोशनी मे चमचमा उठीं। सम्राट यह देखकर ताज्जुब में पड़ गये।

"शाहँशाहे आज़म का फ़ैसला, खुदा का हुक्म है। दुनियाँ

की तमाम दौलत भी उसे मन्ज़ूर नहीं करा सकती," काज़ी साहब ने फ़तवा दिया, "इस नाचीज़ कारीगर को ये तुरंत !"

"हुकुम की तामील की जाय।" बादशाह ने हुकुम दिया और वे आगे बढ़ गये।

शीराज़ के हाथ पैर बांध दिये गये। गुलामों को हुकुम हुआ और वे उसे लाश की तरह घसीट कर जमुना किनारे ले गये।

"फेंक दो इसे।" कोतवाल ने हुकुम दिया।

"मेरी सुराही···सक़ीना को···सुराही···भेज···दे···ना···" शीराज़ ने जिसका शरीर बुरी तरह छिल गया था, जगह-जगह मांस के लोथड़े लटकने और खून बहने लगा था, रुक-रुक कर कहा।

और दूसरे दिन लोगों ने शीराज़ के खेमे में पड़ी उस चट्टान पर नजर डाली तो दंग रह गये। डेढ़ बालिश्त मोटी चट्टान में वह सुनहला घोल जज़्ब हो गया था और जहाँ जहाँ घोल के छींटे पड़े थे, वहीं वहीं चट्टान शीशे की तरह पारदर्शी हो गई थी। पत्थर के एक और टुकड़े पर एक डिजायन देखी गई, जिसके आधार पर बाद को मक़बरे का मुख्य द्वार बनाया और उस पर क़ुरान की आयतें अंकित की गईं।

कई साल बाद जब ताज का निर्माण क़रीब क़रीब पूरा हो चुका लोगों ने एक ईरानी लड़की को पागल की तरह घूमते देखा था कहते हैं, अब भी शरद् पूर्णिमा की रात को ईरानी वेषभूषा में एक लड़का और एक लड़की ताजमहल में साथ साथ घूमते दिखाई देते हैं।

आशा के दीप

"बाबू ! तुमाला ताल आया है," तार थमाते हुये मुन्नी ने प्रश्न किया, "किछने वेजा ऐ ?"

"तेरे मामा ने," श्रीमती जी पर दृष्टि डालते हुये मैंने लिफाफा खोला। 'छत्तीस हज़ार !' मेरे मुंह से निकल पड़ा, "आशा ! मेरे नाम लाटरी है। छत्तीस हज़ार की लाटरी, आशा !"

"सच बताओ ?" मेरी आंखों में आंखें डालती हुई श्रीमती जी स्वयं प्रश्न-सूचक चिह्न बन गईं।

"और नहीं क्या झूठ। देख लो न।" तार बढ़ाते हुये मैंने कहा। मेरी मानसिक दशा क्या हो रही थी, यह मैं स्वयं नहीं जानता।

"छत्तीस हज़ार ! हे ईश्वर।" आशा ने लम्बी सांस ली, जैसे लाटरी में भी भगवान का दख़ल हो, "अब तो उम्मीदों के चिराग़ जल गये !" उसने धीरे से कहा।

"बाबू जी ।" बाहर से पोस्टमैन चिल्लाया, "हुजूर इनाम बख्शीश ।"

"दोपहर को किसी वक्त चले आइये, मुन्शी जी । अभी तो पास में एक पैसा भी नहीं है और बैंक खुलेगा दस बजे ।"

"और मेरा इनाम ?" आशा ने प्रसन्नता से आँखें नचाते हुये कहा ।

"छत्तीस हज़ार ।" कह कर मैंने कलाई पर दृष्टि डाली । सवा नौ बज रहे थे ।

"घड़ी क्या देख रहे हो ? अब भी दफ्तर जाया करोगे ?"

"क्यों ? क्या राय है, अखबार-नवीसी छोड़ दूं ?"

"छोड़ने को उसमें धरा क्या है ! दिन रात मरो-खपो और तब भी वक्त से पैसा नहीं । हर वक्त परेशानी ही परेशानी । देखते नहीं शरीर क्या हो गया है ?"

"बात तो ठीक है । फिर भी कुछ तो करना ही चाहिये । लाटरी से कौन जिन्दगी कट जायगी ।" मैंने कहा ।

"फिर क्या तय किया है ?" आशा बोली ।

"अभी तो कुछ नहीं, पर सोचता हूँ, पत्रिका क्यों न निकाली जाय । साथ साथ थोड़ा बहुत प्रकाशन भी करेंगे ।"

"ख्याल तो अच्छा है । हिन्दी में अच्छी पत्रिकाओं का अभाव भी है । कीजिये, ईश्वर ने चाहा तो चल जायगा । मगर लेखक मित्रों का भी ख्याल रखेंगे न ?"

"क्यों नहीं रानी ? पूँजी हाथ में आना एक बात है और पूँजीवादी मनोवृत्ति का होना एकदम दूसरी बात । मुझे उनका पूरा पूरा ध्यान है । उनकी परेशानियाँ मुझसे छिपी नहीं हैं । अब से मैं······में उन्हें फाके नहीं करने दूंगा । दुनियाँ का कोई

पत्र-संचालक उनकी लेखनी पर हावी न हो सकेगा। उनकी कृतियाँ अब कोई भी प्रकाशक कौड़ियों में न खरीद सकेगा।"

"ईश्वर ने पैसा दिया है तो भले काम में लगाना ही चाहिये;" धर्म-चर्चा छेड़ते हुये आशा ने कहा, "महीने दो महीने तीर्थ-यात्रा करें। थोड़ा बहुत दान दें और फिर निकालिये पत्रिका और प्रगतिशील साहित्य।"

"यह तो होता रहेगा। कपड़े निकाल दो तो ज़रा बैंक हो आऊँ। सिर्फ़ बीस मिनट बाकी हैं दस बजने में।"

"कपड़े! कुरता तो एक भी नहीं है। कहिये पाजामा ले आऊँ?" आशा ने निराशा से कहा।

"हो सके तो ज़रा चाय भी बना दो, रानी, वहाँ पता नहीं कितनी देर लगे।"

"दूध तो हुई नहीं, ले आओ न। दोपहर को राधे का हिसाब कर देंगे। पाव भर शकर भी ले लेना।"

"तब फिर रहने दो। अकारण देर होगी। लाओ, पाजामा धोती क्या देती हो?" कह कर मैंने तार उठा लिया। कई बार पढ़ा, जैसे मुझे अपनी आँखों पर विश्वास न हो।

"ये लीजिये", पाजामा देते हुये आशा बोली, "ईश्वर ने चाहा तो बहुतेरे बन जायेंगे।"

"ईश्वर बेचारे को और भी बहुत काम हैं। अपने ईश्वर से पहिले धोबीराम की करामत देख लीजिये।" पाजामा लौटाते हुये मैंने कहा, "करो भाई मरहम पट्टी। अभी तो इसी से काम चलाना है।"

आशा सुई धागा उठा लाई और मैं सोच रहा था, "अब तो बेचारी को इस रोज़-रोज़ की जोड़गाँठ से मुक्ति मिल जायगी।

कभी दाल है तो नमक नहीं। चाय की पत्ती है तो शक्कर नदारत। धोती है तो चोली जवाब दे रही है।"

"मेरी अँगूठी ओर बुंदे भी छुड़ाते लाइये।" आशा ने चलते चलते याद दिलाई।

"ज़रूर साहब। आपकी अँगूठी भी······ये भी कैसी मजबूरियाँ थीं आशा? तुम्हें याद है ये अँगूठी तुम्हें कब दी थी?"

"चलो हटो। बड़े वह हैं आप।" कहते हुये उसके कपोलों पर लज्जा की अरुणिमा दौड़ गई और उसके सघन पलकों में मिलन-यामिनी नाच उठी।

"और कुछ?"

"माँगने को तो बहुत सी चीजें हैं पर·········"

"पर क्या? कहो न।"

"कपड़े तो मैं देखकर ही खरीदूंगी।" आशा ने मुंह बनाया।

"होम मिनिस्ट्री को मेरा भी ख्याल है न?" मैंने व्यंग किया।

"क्यों नहीं? आपकी लाटरी में मेरा क्या?" आशा मुस्कराई।

"पर वह तो मैं तुम्हें इनाम में दे चुका हूँ। क्या समझीं?" चलते चलते मैंने कहा।

मुट्ठी में तार दवाये मैंने बैंक की राह ली। मैं···मेरा मन···मेरे पाँव बढ़े जा रहे थे, जैसे कोई अभियान हो। मेरे लिये यह लाटरी सचमुच ही लंका-विजय से कम न थी। भगवान राम से भी ज़्यादा हौसले और उमंगें मेरे मस्तिष्क में करवटें ले रही थीं। छत्तीस हज़ार की रक़म यों भी कम नहीं होती और वह भी एक हिन्दी लेखक के लिये। चाहे तो अपनी कृतियां स्वयं प्रकाशित करे, पत्र

पत्रिकायें निकाले, निजी लायब्रेरी बना डाले, या कुछ करें। स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता के लिये इससे अधिक क्या चाहिये।

स्कूली बच्चे, दफ्तरों के बाबू और चपरासी आ जा रहे थे—कुछ हँसते खेलते, कुछ गुम सुम से उदास। किन्तु मेरे मस्तिष्क में में तो मेरा भविष्य नाच रहा था। आँखों में नोटों की गड्डियाँ घूम रही थी। अभाव और बेबसी के बीच घुटने वाले सहकारी मित्रों के उतरे हुये चेहरे क्षण भर को मेरी कल्पना में उभरे और दूसरे ही क्षण छत्तीस हजार ने उनके चेहरे बदल दिये। पत्रिका चल उठी। प्रेस की मशीनें नित-नवीन कृतियाँ उगल रही थी। और इस तरह शुरू हुआ श्रमजीवी लेखकों के जीवन का नया दौर। साहित्य में नवरचना का नया सिलसिला।

पैरों के नीचे कठोर सड़क, अगल बगल ईंट पत्थरों की पुख्ता इमारतें दीख पड़ी। मोड़ पर नीम के नीचे मौलाना का रेस्टरां देखकर सोचा, "क्यों न चाय पीता चलूं ? किन्तु पैसे ? दो महीने से टाल रहा हूं और अब यह रास्ता ··· यह रास्ता छोड़ने की नौबत खतम हो गई ? किन्तु ··· किन्तु क्या ? और तार मेरे हाथ में फड़फड़या।"

"अमां मौलाना। भई एक चाय।" मैंने बेतकल्लुफ़ी से कहा, क्योंकि तार का अर्थ था छत्तीस हजार रुपये। रुपये जिनसे लोगों की वासनायें बेक़ाबू हो जाती हैं। झिझक के बन्धन टूट जाते है। अट्टालिकाओं और मदिरालयों से लेकर मन्दिर मसजिद तक के कपाट खुल जाते हैं।

"जी अच्छा," कह कर मौलाना बड़ी तत्परता से चाय ढालने लगा।

"कितना नेक है यह मौलाना भी।" मैंने मन ही मन सोचा, "जुबान से उफ तक नहीं की। गरीब की दस बीस की पूँजी।

उधार वाले इस क़दर। कहें तो क्या ? नौकरी के लिये बार बार कह चुका हूँ। बाल बच्चेदार आदमी है""और हाँ, अपनी पत्रिका का भरा पूरा परिवार होगा। क्यों न मौलाना को बुला लिया जाय।"

"और कुछ बाबू जी ?" चाय का प्याला बढ़ाते हुये उसने कहा।

"बस भाई। पैसे ले आयें तब कुछ खायेंगे पीयेंगे।"

"लाहौल ! आप भी कैसी बात करते हैं बाबू जी। आपके लिये जान हाज़िर है। अल्लाह जानता है, बाबू जी। मगर आज तो छब्बीस ही तारीख़ है !" उसने आश्चर्य से कहा।

"तो क्या हुआ ? तुम्हें मालूम नहीं शायद। मुझे छत्तीस हज़ार की लाटरी मिली है। रुपया अभी कुछ देर में मिल जायगा।

"ख़ुदा आपको बरकत दे।" मौलाना ने दुआ की।

"अब मैं अपना अख़बार निकालूंगा। और तुम""तुम भी अपने रिसाले में काम करना। क्यों ठीक है न ?" मैंने अपनापन उड़ेलते हुये कहा।

"बाबू जी !" मौलाना की आँखें कृतज्ञता से छलक उठीं; "मालिक आपको सलामत रखे।" उसने बड़ी दयनीयता से कहा।

"तुम्हारी दुआ क़ुबूल हो गई मौलाना। अब कम से कम अपने शायर, अदीब और दीगर मेहनतकश साथी, हिक़ारत और ज़िल्लत का बोझा न ढोयेंगे। उनका अपना रिसाला होगा। मौलाना""""हमारे लहू और पसीने की स्याही से अब हक़ीक़त शाया होगी और हमारा अख़बारा""""जनता का अख़बार, जनवादी तहरीकों की हिमायत करेगा।" भावावेश में मैं बक गया।

"हम अवाम के लिये जियेंगे," मौलाना ने भरे हुये कंठ से प्रतिक्रिया व्यक्त की, "बेकस और बेदाद शरमजीवियों के लिये मरेंगे।"

"तुम्हारी ख्वाहिश पूरी हो।" मैंने मौलाना के हौसले पर दाद दी।

"इन्शाअल्ला।" और मौलाना ने सर झुका लिया।

सहसा फटे वस्त्रों में अपना शरीर छिपाने की विफल चेष्टा करती हुई श्रीमती जी वहां आ पहुँची। उनकी दयनीय मुद्रा देखते ही प्याला हाथ से छूट पड़ा।

आँख खुल गई।

हाथ में एक बैरंग चिट्ठी लिये मुन्नी खड़ी थी।

"बाबू। आपकी चित्ती आई ऐ;" लिफाफा थमाते हुये उसने प्रश्न किया, "किछने बेजी ऐ?"

"तेरे मामा ने।" श्रीमती जी पर दृष्टि डालते हुये मैंने लिफाफा खोला।

"खेद है पत्र की रीति-नीति के अनुकूल न होने से प्रकाशन में असमर्थ हैं। रचना अत्यन्त उत्कृष्ट है।" उसमें लिखा था।

"कहानी लौट आई," मेरे मुँह से निकला, "आशा के दीप जलने से पहिले ही बुझ गये!"

"मुन्छी जी", मुन्नी ने तुतलाते हुये कहा, "चित्ती के पैछे माँगते ऐ।"

•

तूफान के बाद

"ओफ ! यह क्या हुआ……मैं…कुछ समझ में नहीं आता। अजीब उलझन है। तनख्वाह इकत्तीस को ड्यू थी। आज सात को मिली। मिली न मिली सब बराबर। आग लगे ऐसे क़ानून को। किस क़दर पतन हो गया है आदमी का। दुनियाँ मेरे जैसे लोगों के लिये नहीं है। एकदम नहीं है।" दत्ता हीवेट रोड के चौराहे पर खड़ा खड़ा मिनमिनाया।

"कैसे चलेगा पूरा महीना ! क्या कहूँगा उनसे ? दूध वाले ने दूध बन्द कर दिया है। बच्ची का क्या होगा ! धोबी शाला बोलता है उल्टा पल्टा। घर घर जाकर पैसों का रोना रोयेगा। पड़ोसी लोग हैं। जी चाहता है मुंह भी न देखूं किसी का। रत्ती भर सहारा नहीं किसी से। हँसी उड़ाने को सब हैं—वह शराबी गोसाँई भी।"

"और वह रस्तोगी शाला ! नक़द पैसे हों तो नाम भी न लूं कमीने का। भाव-ताव में गड़बड़ करता है। तौल तोलता है सेर

की तीन पाव और हिसाब-किताब में हमेशा कुछ जोड़ लेता है अपनी तरफ से। उसे बिना छोड़े उद्धार नहीं हो सकता! लेकिन कैसे छोड़ दूं? जब तक पाई-पाई चुकती न कर दूं, उसी की दूकान पर नाक रगड़नी पड़ेगी।" दत्ता कहता गया।

"कैसे टालूंगा उसे? पिछले दो महीने का हिसाब बाकी पड़ा है। सुबह शाम तकाजे भेजता है। भला उसे यक़ीन आयेगा! कहेगा, ऐसी-तैसी तुम्हारी। जेब कट गई! ये चरका किसी और को देना। कैसे यक़ीन दिलाऊँगा उसे। वह हरगिज़ नहीं मानेगा।

"बच्चों की फीस का क्या होगा? वह तो देनी ही पड़ेगी। वक्त से नहीं पहुँची है तो फीस से ज्यादा जुरमाना चढ गया है। अब भी नहीं पहुँचेगी तो नाम कट जायेंगे। क्या फायदा इस रोज रोज की झकझक से। गिरीश मैट्रिक हो जाता तो शायद कुछ सहारा मिलता। लेकिन क्या भरोसा है। सब लड़के तो सहारा नहीं देते। उसे काम मिल ही जायगा, कौन जानता है?

दत्ता ने मन ही मन कहा, "रपट लिखाने से भी क्या होगा। बिला वजह की तवालत। किसे क्या पड़ी है। पुलिस क्या करेगी। मेरी जेब कटने से कौन शहर के अमनोअमान को खतरा है। जेबें रोज कटती हैं। कटती रहेंगी। तब तक कटती रहेंगी जब तक आदमी को ईमानदारी से और अपनी मेहनत से जीने की व्यवस्था नही होती। मिली भगत है। पता लग भी जायगा तो मेरी तनख्वाह मुझ तक पहुँचने से पहिले ही तक़सीम हो जायगी। तह-क़ीकात फिर भी होती रहेगी। क्या फायदा ऐसी रपट लिखाने से। झूठे दिलासे के अलावा और कुछ नहीं होगा।"

"कुछ सितारे ही उल्टे हैं," दत्ता ने चप्पल का तस्मा टाँकते हुये कहा, हर चीज जैसे मेरा साथ छोड़ना चाहती है। यह भी

साली आज ही टूटने को रही थी—जबकि मेरे पास मरम्मत को भी पैसे नहीं हैं। पेन लीक करने लगा है। कमरे का बल्ब फ्यूज पड़ा है। कैसे चलेगा अंधेरे में यह महीना ? कहां पढ़ेंगे बच्चे ? इम्तिहान के दिन हैं। मगर बल्ब से क्या ! कहीं से मांग भी लाऊं तो कनेक्शन तो कटेगा ही। जलायेंगे रेंडी के तेल का दिया आंखों के लिये बहुत मुफीद होती है उसकी रोशनी ! मगर उसके लिए रेंडी का तेल तो चाहिये ही।

"अब कैसे क्या होगा ?" दत्ता ने पार्क की सूनी बेंच पर बैठते ही हथेलियों में सिर थाम लिया। "एप्रिल तीस का है। काश हर महीना तीस दिन का होता। उंह होगा। अगली तनख्वाह के तो पूरे तीस दिन और हैं। इकतीसवें दिन मिलेगी। तब तक ?" दत्ता ने दूर झाड़ियों के अँधियारे में दृष्टि फैलादी। हजारों प्रश्न एक एक करके उभरते गये और उनका कोई अन्त न था।

यही थे वे सवाल जो अक्सर सोते-जागते, घर-बाहर, दफ्तर में उसके सामने मुंह फैलाकर खड़े हो जाते हैं। खड़े रहते हैं उस वक्त भी जब वह अपनी कृशकाय पीतवर्णा पत्नी की टहनी ऐसी बाहों में सिर टिका कर बच्चे की तरह रो पड़ता है। जब वह गुब्बारे और आइसक्रीम वाले की आवाज सुनते ही बच्चों को बहलाकर घर के लन्दर ले जाता है और उन्हें तरह तरह से फुसलाने का प्रयत्न करता है।

समय से बहुत पहिले वह बुड्ढा होता जा रहा है। तीस बत्तीस की उम्र भी कोई उम्र होती है। मगर दत्ता अभी से चालीस पैंतालीस का लगता है। शीशा वह जान बूझ कर नहीं देखता, क्योंकि उसे हक़ीकत का ऐहसास होता है। कुछ फायदा भी नहीं है। बालों का गिरना वह रोक नहीं सकता। चेहरे की झुर्रियों पर उसका कोई बस नहीं है।

जिन्दगी के लिये उसे कोई चार्म नहीं है। जिन्दगी जहाँ बोझ हो वहाँ जीने का क्या मज़ा? फिर भी वह जी रहा है। बीवी बच्चों के लिये शायद। खुदकुशी वह कर सकता था। ये ख्याल दर्जनों बार उसके दिमाग में आया भी मगर वह उस पर अमल न कर सका। शायद इसलिये कि उसकी जिन्दगी, नींव की उन बेबस ईंटों की तरह है जो खुद बोझ से दबकर भी एक दीवार को सहारा देती हैं। वह जानता है, नींव ने अगर अपनी जगह छोड़ दी तो दीवार भरभरा कर गिर पड़ेगी। और इसकी कल्पना भी उसके लिये दुखद है।

हृदय और मस्तिष्क बोझिल हैं लेकिन दत्ता अपनी समस्त चेतना को जैसे झकझोरते हुये उठ खड़ा हुआ—वैसे ही जैसे आँधी के बाद दिये की काँपती हुई लौ कुछ देर के लिये स्थिर हो जाती है। पार्क की सुनसान बेंचों पर उसने नज़र डाली। स्मारक निधि की ओर से बनाई गई गांधी जी की प्रस्तर प्रतिमा को देखा। अपनी जेब को एक बार फिर से टटोला और फिर कल्पना की आँखों से आने वाले एक महीने को देखता हुआ वह पार्क से बाहर हो गया।

उसकी चाल में एक दृढ़ता है। माथे की सलवटें मिट गई हैं। होंठो का कम्पन रुक गया है। उसकी चाल में कुछ कुछ वैसी ही बेफिक्री या इत्मीनान है जैसा दाह-संस्कार के बाद श्मसान से लौटने वालों की चाल में होता है। लगता है इस वक्त या तो उसने चिन्ताओं को नज़रन्दाज़ कर दिया है या फिर स्वयं को आने वाली परिस्थितियों के लिये तैयार कर लिया है।

रात के सन्नाटे में वह घर की सीढ़ियों पर चढ़ रहा है, ऐसे जैसे कुछ हुआ ही न हो। सीढ़ियों से उतरते हुये एक नौजवान को देखते ही वह कुछ ठिठका। निगाह जो अब तक ज़मीन पर टिकी थी। ऊपर उठी। उसकी आखें नौजवान की आखों से मिलीं

और फिर उसने जीने की आखिरी सीढ़ी पर पत्नी को बच्चों के साथ खड़े देखा।

"आप ?" दत्ता जैसे सोते से जाग पड़ा, "किसे चाहते हैं आप ?"

"मैं, जी ..." नौजवान ने, जो देखने में सभ्य और सुसंस्कृत लेकिन फटेहाल मालूम होता था, कांपती सी आवाज में कहा, "मिस्टर आर० डी० दत्ता से मिलने आया था।"

"मैं हूं दत्ता, कहिये ?"

"जी !" युवक जैसे चौंक पड़ा। "मुझे कुछ नहीं कहना। उन महिला से पूछ लीजिये। मालूम न था कि आप अध्यापक हैं।" कहते कहते वह बड़ी तेजी से सीढ़ियों से उतर गया।

"ठहरिये !" दत्ता ने उसे टोकते हुये कहा, "मैं समझा नहीं।"

नौजवान जो आखिरी सीढ़ी पार कर चुका था, पल भर को ठिठका। बोला, "मैं जेबकतरा हूं। उन देवी जी से अपना पर्स ले लीजिये। अपना पोस्ट कार्ड भी ले लीजिये, जिसके सहारे मैं यहां तक आ सका। आपको जान सका।" और वह जल्दी जल्दी डग बढ़ाता हुआ रात के अंधेरे में खो गया।

कम्बल और कवि कौशल

सिन्हा को इस क़दर परेशान मैंने कभी नही देखा था। डेली हैराल्ड की रिपोर्टरी करता है। सुबह से शाम तक शहर भर की खाक छानता है। रात को लोकल पेज सम्हालना पड़ता है। मिलते होंगे सौ सवासौ। मगर इतना मरने-खपने के बाद भी उसका चेहरा हमेशा खुशी से चमकता रहता है। आदमी निहायत जिन्दादिल है। जब मिलेगा—प्रेस रूम में, लाबी मे, दफ्तर में, किसी मीटिंग में—हमेशा बड़े इत्मीनान से बड़ी मुहब्बत से मिलता है। चाय और सिगरेट पिलाये बिना तो जैसे उसे तसल्ली ही नही मिलती।

लेकिन वह रात से ही कुछ उखड़ा-उखड़ा है। मुख्य मन्त्री जी के सम्मान में आयोजित कवि-सम्मेलन में भी मैंने उसे देखा था। वह खुश था। कवियों और मेहमानों को हँस-हँस कर रिसीव करते देखा था। वह पान की रकाबी लेकर मेरे पास भी आया था। आँखों-आँखों मे कह रहा था, अमां इस वक्त गई न करो। कमअज़कम

दो बीड़े तो लो। सिगरेट भी रख लो। कैप्सटन है। इसके बदले पांच आयेंगी—फोर कैसिल वाली।

कवि-सम्मेलन की न्यूज़ उसी ने कवर की थी। मगर उसमें था वा कुछ नहीं। साफ़ लगता था जैसे बला टाली गई हो। प्रेज़ेन्टेशन उसका खासा अच्छा है मगर जब वह मूड में नहीं होता तो यही होता है। ठीक से कुछ समझ पाना तो मुश्किल था। उसने कुछ कहा भी नहीं। फिर भी मेरा ख्याल था कि कवि-सम्मेलन में कुछ हो हुआ गया है।

दिन निकले वह आया था। सोते से जगाया मुझे। बोला, "कुछ रुपये हैं ?" मैंने कहा, "पूछ लो न उन्हीं से।" मैंने श्रीमती जी की ओर इशारा करते हुये कहा, "भाई रुपयों का मामला वही डील करती हैं। कुछ पैसे चाहिये तो जेब हाजिर हैं। कमीज़ देखो वह टँगी है।"

श्रीमती जी ने पूछा भी कितने चाहिये। जवाब में उसने कहा, "एक इटालियन कम्बल खरीदना है। पचास साठ में आयगा।"

लेकिन कम्बल और वह भी इटालियन। उसकी एकदम ज़रूरत क्या आ पड़ी यह उसने बता के नहीं दिया।

"अभी नहीं है तो न सही। बारह मेरे पास हैं। बाक़ी का इन्तज़ाम करके रखना। दोपहर को आऊँगा।" कह कर वह जल्दी जल्दी सीढ़ियों से उतर गया। चाय भी नहीं पी उसने। मैं श्रीमती जी का और वह मेरा मुँह देखती रह गईं।

सब्ज़ी खरीदते वक्त मैंने उसे गुईन रोड पर देखा था। तेजी से सायकिल दौड़ाता चौक की तरफ जा रहा था। उसे देखते ही मुझे रुपयों की बात याद आ गई। कम्बल और कवि-सम्मेलन मेरे दिमाग़ में घूम गये। एक पहेली सी बुझाता मैं घर लौटा।

लंच से पहिले वह कौन्सिल हाउस भी आया था। न उसने मुंह धोया था न बालों को कंघी की थी। जिस्म पर वही रात वाले कपड़े थे। आकर मेरे पास खड़ा हो गया। बोला एक जरूरी काम से आया हूँ। ईवनिंग कवर कर लेना। वह जल्दी से चला गया। और मैं देखता रह गया। बुला उसे सकता नहीं था। न बजट स्पीच छोड़कर उसके पीछे जा सकता था।

इंटरवल में प्रेस रूम गया तो मालूम हुआ कि वह वहाँ बहुत देर तक कांग्रेस पार्टी के चीफ़ व्हिप सांड साहब का इन्तजार करता रहा था। लेकिन उनसे उसकी मुलाकात न हो पाई। सोच रहा था जल्दी से पहिला डिस्पैंच भेज दूँ। टायपरायटर लेकर बैठा ही था कि सांड साहब आ धमके।

"सिन्हा आपका इन्तजार कर रहा था।" उनके करबद्ध नमस्कार के उत्तर में हाथ जोड़ते हुए मैंने कहा, "कुछ देर पहिले ही गया है।"

"उन्हीं से मिलने आया हूँ। खेद है कुछ देर लग गई। स्लिप मुझे हाउस में मिल गया था।" सांड महोदय ने सफाई पेश की, "वित्त मन्त्री जी ने चाय में उलझा लिया। मेरी ओर से माफी मांग लीजिये।"

"बैठिये" मैंने कुर्सी खिसकाते हुए कहा, "वह शायद आता हो।"

वह बैठ गये और उनके साथी एम०एल०ए० भी सोफे पर मचमचाते हुए बैठ गये। कम्बल और कवि सम्मेलन की गुत्थी फैलाते हुये मैंने कहा, "कहिये रात के कवि सम्मेलन में तो थे न आप ?"

"जी हां मगर कुछ देर से पहुँचा था।"

"कोई बात नहीं। नेताओं के साथ तो यह मजबूरी लगी ही रहती है।" मैंने मीठी चुटकी लेते हुये कहा, "कहिये कैसा रहा कार्य-क्रम।"

"बहुत बढ़िया। अति सुन्दर। बाद की कवितायें नहीं सुन सका था। सर दर्द करने लगा था। इसलिए उठ आया।"

"हूँ" मैंने सहानुभूति के स्वरों में कहा। "सिन्हा भी तो था आपके साथ।"

"जी वह बहुत बाद में आये थे। बेचारों को कम्बल की जरूरत थी। शायद किसी कवि को सर्दी लग गई थी।"

"एं ?" मैंने जिज्ञासा का जाल फैलाया।

"जी हां। मैंने सोचा कवि तो हमारी समाज की धरोहर हैं। और फिर सिन्हा जी स्वयं आये थे। भला कैसे इन्कार कर देता। दुख है कि वह कम्बल मिल नहीं रहा। मेरा होता तो कोई बात न थी। मैं तो आप जानते हैं कि मिल का कपड़ा छूता तक नहीं।" सांड महोदय ने अपनी नेहरू जाकिट पर हाथ फेरते हुये कहा।

"हूँ। शायद इसीलिए सिन्हा परेशान हैं।" मैंने अनुमान के स्वरों में कहा और डाक तैयार करने में जुट गया।

कुछ ही देर में मैंने देखा कि सांड महोदय और उनके साथी उठ खड़े हुए हैं। वह एम०एल०ए० सज्जन भी जो अपने गन्दे पैर सोफे पर धरे बैठे थे। घूम कर देखा तो सिन्हा अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ दरवाजे के पास ही खड़ा था।

"क्षमा कीजिये सांड साहिब। आपको बड़ा कष्ट हुआ।" उसने हांफते हुए कहा, "कम्बल मिल गया। आप ही के यहां से लौट रहा हूँ। देने गया था।"

"वाह सिन्हा जी ! आप भी। अजी ऐसी भी जल्दी क्या थी ? पहुँच जाता देर सवेर। नही भी पहुँचता तो क्या—अपना तो जीवन ही साहित्य और समाज के लिये है।" सांड महोदय ने गर्व से तनते हुये कहा, "सभा-सम्मेलनों में तो चीजें खो ही जाती हैं।

जैसे-तैसे उनका लेक्चर खतम हुआ और सिन्हा उन्हें प्रेसरूम से वाहर छोड़कर जल्दी ही लौट आया। मेरे थर्मस से चाय उड़ेलते हुये बोला, "अमां यार विज्जी, इस कम्बल ने तो जान मार दी।"

"मिला कहाँ यह वताओ।" मैंने पैकिट वन्द करते हुये पूछा।

"यह न पूछो," उसने सिगरेट वढ़ाते हुये कहा, "तुम आदमी हो मुँहफट।"

"फिर भी। वताओ न। किसी से कहूँगा नही।" मैंने उसे आश्वासन दिया।

"क्या वताऊँ यार ? रात वे दोनों ...... समझे ? वे अपने यार। एकदम डाउन थे। सोचा अन्दर ले जाना ठीक नही होगा। इसलिये वरावर वाले कमरे में वैठा दिया। सर्दी रोज से ज्यादा थी—इसलिये कम्बल ला दिया। सोचा था ठिठुरने से वच जायेंगे। सम्मेलन के वाद गया तो दोनों ग़ायव थे, मय कम्बल के।" उसने हँसते हुये कहा, "दिन भर परेशान रहा, सदाक़त वाले मौलाना के यहाँ गिरों रखकर दोनों ने खाना खा लिया था। वहुत भूखे थे।" और सिन्हा मुस्करा दिया—एक फीकी मुस्कराहट।

"चलो ख़ैर मनाओ। सस्ते छूट गये। और हाँ," मैंने कहा, मगर सिन्हा, "ये तो वहुत ऊँचे दर्जे के शायर हैं।"

"अमां यार तुम भी रहे निरे वोहो। अरे इसीलिये तो पेट भरना भी दुश्वार है।" उसने लापरवाही से कहा और मैंने देखा गम्भीरता और उदासी की एक वदली सी उसके मुँह पर छा गई है।

चाँदी का गडुआ

मांडला के दौरे पर जाते समय दूर ऊँची-नीची पहाड़ियों की छाँह में हमें आदिवासी गोंडों के उस नन्हे से, जाने-पहिचाने गांव महुआ टोला के कच्चे झोंपड़े दिखाई दिये, जिसकी दूर तक छितरी हुई आबादी कुल डेढ़ सौ है।

उनकी अर्ध-नग्ना औरतें, और नंग-धड़ंग बच्चे आधुनिक सभ्यता से सदियों पीछे हैं। अन्ध-विश्वासी, वचन के सच्चे, धुन के पक्के और ग़ज़ब के फ़ाकेमस्त !

ग़रीबी से उनका सनातन-सम्बन्ध है लेकिन इसकी उन्हें कोई शिकायत नहीं है। जङ्गलात महकमे के अदना से अदना नौकर उन्हें ज़र-खरीद ग़ुलाम समझ कर व्यवहार करते हैं, मनमाने ढंग से बेगार लेते हैं—इसका भी कोई गिला नहीं। पास के क़स्बे में जहाँ मंगल को पैंठ का बाज़ार लगता है उनकी मेहनत से चुनी चिरौंजी सस्ते नमक की तौल बिकती है और उसमें कोई मोल-भाव

नहीं हो सकता क्योंकि, "साँभर सात समन्दर पार से आती है, चिरौंजी तो घर की चीज़ ठहरी—आदिवासियों के लिये कौड़ी मोल की।"

फसल अच्छी है माने महुआ खूब हुआ; और महुये से कच्ची शराब बनती है। कोदों-कुटकी का एक जून खाना। फँस जांय तो वन्यपशुओं का मांस—तोता, चूहा, मेंढक, सांप—सब कुछ चलता है। और दारू। मस्त होकर सारी-सारी रात नाचने और जिन्दगी के गीत—करमा और ददरिया—गाने के लिये और क्या चाहिये! ऐसे हैं महुआ टोला के लोग।

पानी इनके गाँव में सिर्फ बरसात में होता है। कुछ दिनों गढ़ों में भरे पानी से काम चलता है और फिर सात मील दूर महानदी से इनकी औरतें पानी लाती हैं। रात के अन्तिम पहर में सात मील जाना। ऊबड़-खाबड़ चट्टानी पगडंडियों से, सुनसान जङ्गल के बीच से, जहाँ खूंख्वार जानवरों का सामना आम बात है और दिन चढ़े लौटना। तीन घड़े सिर पर रख कर, जिसमें पानी कम और कीचड़ ज्यादा होती है। क्योंकि इनकी महानदी सिर्फ एक बरसाती नाला है जिसकी तलहटी खोद-खोद कर तूम्बी के चमचे से पानी इकट्ठा किया जाता है।

जिन्दगी का यह क्रम कब से चला आ रहा है इसे कोई नहीं बता सकता। समय के बारे में अभी धारणायें बनी ही कहाँ हैं? इसे गाँव का बूढ़ा ओझा भगला भी नहीं बता सका, जो त्रिकालदर्शी माना जाता है। पानी जरूरत की चीज़ है, इसे सब स्वीकार करते थे। चट्टान को फोड़ कर कुँआ भी खोदा जा सकता है, इस पर कभी सोचा ही न गया था।

शायद कभी सोचा भी न जाता, अगर देश आज़ाद न होता; अगर देश की सरकार बनाने को अमीर-ग़रीब, शहरी और

आदिवासी के वोट की ज़रूरत न होती; वोट के लिये इस टोले में मिनिस्टर का दौरा न होता। मिनिस्टर का चुनाव दौरा हुआ तो जंगलात महकमे ने मार-मार कर महुआ टोले से पौने पांच मील का रास्ता चट्टानों और झाड़-झंकाड़ से साफ़ कराया। और फिर गांव के इतिहास में बहुत सी नई नई बातें हुईं—बिना बैल के अपने आप चलने वाली मोटर नाम की गाड़ियां आईं। सूचना विभाग का इंजन आया, जिसने बिना मशालों के पूरी पहाड़ी पर रात में दिन जैसा उजाला किया। सिनेमा के पर्दे पर मुर्गी, बकरी, बोलते-बतलाते लोग, और बहुत सी देखी अनदेखी चीज़ें आईं।

यह सब एक सपना सा था, जिसकी चर्चा बहुत दिन तक रही। लेकिन इन सबसे ज्यादा और व्यापक चर्चा का विषय था श्रमदान से बनने वाला वह कुआं जिसके लिये भोर से सांझ तक, तपती दोपहरियों में भी आबाल-वृद्ध सभी ने खून पसीना एक किया। विकास की मोटर आने लगी। साहब लोग देखते, खुश होते, हिम्मत बढ़ाते, कभी कभी रात को ठहरते, शिकार करते और चले जाते।

बड़ी साध और डेढ़ महीने की मेहनत से कुंआ तो खुद गया—इतना गहरा कि दोपहरी में भी जब सूरज सिर पर होता उसका तल न दिखाई देता, लेकिन दुर्भाग्य से पानी का सोत न फूटा। फिर साहब लोग आये, नाप-जोख हुई। तरह तरह के आले लगाये गये। बिजली का इंजन आया और सारी रात काम चलता रहा। अगले दिन शाम को मिनिस्टर आने वाले थे—कुयें के उद्घाटन को। जिले के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे अफसरों ने—डिप्टी, तहसीलदार, वीडीओ और ग्रामसेवक, सबने बिना पलक लगाये कोशिश जारी रखी और अन्त में उनकी मेहनत कारगर हुई।

गाँव के लोग, स्त्री, पुरुष और बच्चे सभी खुश थे। तीस गाँव के लोग जो इस चमत्कार, सिनेमा और मिनिस्टर की मोटर देखने आये थे, आश्चर्य-चकित थे। कुँये के पास ही सभा हुई। मिनिस्टर ने भाषण देते हुये आज़ादी, जनतन्त्र, योजना, समाजवाद और वोट के बारे में कुछ कहा जो वनवासियों की समझ से परे था, लेकिन जिसे सब ने शान्त भाव से सुना। बीडीओ ने हुकुम दिया तो भाषण के बाद सब ने तालियाँ बजाईं। फिर नारियल फोड़ कर कुँये की पूजा हुई और चांदी के गडुये रेशम की डोर से मिनिस्टर महोदय ने कुँये का विधिवत उद्घाटन किया।

कितने साफ और मीठे थे वे पहिले घूँट, जिन्हें पीकर भगला ने 'साच्छात अमिरत' की संज्ञा दी थी। मिनिस्टर चले गये और उनके पीछे जिले और तहसील के सब अफसर भी। बीडीओ साहब और उनके साथी काफी बाद तक सबको स्वयं खींच खींच कर पानी पिलाते रहे। सचमुच निहाल हो गया महुआ टोला।

कितनी खुशगंवार थी वह रात जब बरसों के बाद चावल की किनकी पकी थी। जब आबाल वृद्ध सभी ने छक कर सरकारी खर्चे से भात और गुड़ खाया था और पिया था पहिली बार अपने गाँव का पानी—जिसे नियोजन और श्रम की मिली जुली ताक़त ने चट्टान की छाती फोड़ कर निकाला था।

विकास विभाग के अधिकारियों के पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। बुड्ढे बुढ़ियों ने उन्हे हृदय से आशीर्वाद दिया। समवयस्कों ने उन्हें सराहा और गाँव की बेटियों ने उन्हें अपनी कोमलतम भावनाओं से पूजा। बच्चों के लिये तो वे जैसे किसी जादुई कहानी के नायक या अवतारी पुरुष थे।

यह था महुआ टोला।

[illegible] कुँए तक [illegible] गाँव से [illegible] और देखा आज कि [illegible] की तरह [illegible] है। मैंने देखा तो [illegible] नहीं [illegible] उसके पास कुआँ-पुआँ और [illegible] था। [illegible] नेताजी पर [illegible] और [illegible] के [illegible] जमाते थे। बहुत कुर्सी पर [illegible], "[illegible] हुई……उस दिन के बाद फिर कुँए से पानी नहीं निकला……विकास के साहब लोग नहीं आये……हमारी [illegible] बेकार गई……मुँह दिखाने लायक नहीं रहे……!" और [illegible] फूट-फूट कर बच्चों की तरह रोने लगा।

इससे ज्यादा कुछ किसी ने कुछ न कहा और मुझे लौटना पड़ा भारी मन—उदास मौन!

बहुत दिन बाद जब वहाँ के एक विकास अधिकारी से भेंट हुई तो उसने शैतान की हँसी हँसते हुये कहा, "चट्टान में कहीं पानी निकलता है? चुनाव के लिये मिनिस्टर महोदय का वादा था इसलिये कुँआ खुदना जरूरी था। उनकी विजिट शेड्यूल हो गई थी, इसलिये उद्घाटन जरूरी था। मजबूरी थी। कुँये में मीठे पानी का ड्रम रखाये बगैर काम भी कैसे चलता?"

और मैं सोचता रहा ग्राम से योजना-आयोग के स्तर तक हजार जगह नवनिर्माण के आंकड़ों में इस कुँये का भी शुमार होगा।

ख़त का मज़मूं

"आदाब करती हूँ चाचा हुजूर। अम्मी मुहतरमा ने आपको सलाम कहा है।" मेरे शायर दोस्त की पांच वर्षीया बेटी नफ़ीसा एक ही सांस में कह गई।

"खुश रहो बेटी। कहो ख़ैरियत तो है।" मैंने बच्ची को गोद में उठाते हुये पूछा।

"जी इनायत है दुआ है करम है। एक ख़त आया है। अंग्रेज़ी में है। इसीलिये आपको तकलीफ़ दे रही हूँ।" लड़की ने लखनवी अन्दाज़ मे कहा और मैं सोचने लगा क्या कल्चर है यह भी ! यह अदब, ये लिहाज़, ये नफ़ासत, ये ज़ुबांशीरी लखनऊ के अलावा और कहां मिलेगी ? फिर मुझे ख्याल आया कि वह लखनऊ की ही नहीं एक शायर की भी बेटी है।

तो ख़ैर, मैं जल्दी से लपका हुआ गया। नफ़ीसा ने अपनी वालिदा को खबर की और दूसरे ही मिनट वह मुझे अन्दर लिवा ले गई। तिदरी में पड़ी चारपाई पर मुझे बिठा कर वह अपनी माँ के पास अन्दर चली गई। घर की हालत देखकर मेरा दम घुटने लगा।

चारपाई टूट कर [illegible] हो गई है। पाये टूट टूट कर जमीन से लग गये हैं। रस्सी की निवाड़ों से बांध बांध कर उन्हें टिके रहने पर मजबूर किया जा रहा है। चारपाई के पायों पर की [illegible] का रंग फीका पड़ता है—मुझे याद आ रहा है वह दिन जब मेरे दोस्त ने इसे बड़े चाव से खरीदा था। उन्हें पहचानने वाली आज भी है मगर अफसोस, [illegible] नहीं रहा।

मैं देख रहा हूँ पानी की बाल्टी की मिट्टी के घड़े के बजाय मेरे [illegible] पर ही गगरी बड़ी थी जगह जगह से फूट पिचक गई है। जगह जगह से पानी बूंद बूंद रिस रहा है—ठीक वैसे ही जैसे पामाली में [illegible] की रफ्तार मुझे पैदा हो जाती है।।

टाट का पर्दा इस घर में हमेशा से रहा है। यह उस वक्त भी था जब हम लोग एकदम बच्चे थे। जब घर के सहन में गोलीबट्टा खेला करते थे। मगर अपनी याद में कभी भी मैंने उसे इस क़दर तार तार होते नहीं देखा।

कानस पर रखे हुये तामचीनी और काकरी के प्याले वही हैं; रकाबियां और कटोरे वही हैं जिन पर अंकित फूलों को देखकर मेरा दोस्त बहुत खुश होता था। मगर उनकी तादाद काफी कम हो गई है। उनमें से ज्यादातर चटख गये हैं और खंडित मूर्तियों की तरह बदनुमा लग रहे हैं।

मैं देख रहा हूँ घर की दीवारें जगह जगह चटख गई हैं। उनमें दरारें पैदा हो गई हैं—वैसी ही दरारें जैसे किसी टूटते हुये सामाजिक ढांचे में पैदा हो जाती हैं। दीवारों और छत की सफेदी पर धुयें की एक हलकी सी तह जम गई है। छत से चूने वाली पानी की लकीरों में कायी की रंगत उभर आई है। छत और दीवारों का पलस्तर जगह जगह से झड़ रहा है और उन पर कोढ़ जैसे भद्दे दाग़ नजर आ रहे हैं।

सोचता हूँ आज अगर वह जिन्दा भी होता तो भी शायद यही हालत होती, क्योंकि जिन्दगी के आखिरी दिनों में वह बहुत तंग-दस्त रहने लगा था। मरते वक्त उस पर कुछ कर्ज़ भी था। आदमी वह निहायत खुद्दार (स्वाभिमानी) था। बिकना उसके लिये मुम्किन न था। यह बात नहीं कि उसके खरीदार न थे। रेडियो पाकिस्तान की तरफ से उसके पास अच्छा खासा आफर आया था। भारत सरकार ने भी उससे कुछ लिखाने की चर्चा चलाई थी। मगर वह था कि ज़मीर और आत्मा की आवाज़ के आगे कुछ सुनने को तैयार ही न था।

मरने के बाद, कहते हैं किसी को बुरा न कहना चाहिये। फिर भी मेरा ख्याल है, और मैं उसे छुपाना नहीं चाहता, वह एक [illegible] तक आयडियलिस्ट और खब्ती था। खब्ती मैं इसलिये कहता हूँ, कि उसने जिन्दगी में कभी किसी से समझौता नहीं किया और लायफ एक स्ट्रेट लाइन तो है नहीं। उस जैसे रहमदिल दुनिया में बहुत कम होते हैं—ऐसे जो अपनी रोटी में दूसरे ज़रूरतमन्द को शरीक़ कर सकें। उसमें यह खूबी थी। काश कि वह जिन्दगी को थोड़े प्रेक्टिकल नज़रिये से देखता तो वह खुद भी जिन्दा रह सकता था; औरों को जीने में मदद कर सकता था और अदब और शायरी को तो उससे अभी बहुत उम्मीदें थीं।

मैं यह सोच ही रहा था कि नफ़ीसा क़लई की एक तश्तरी में, जिसकी क़लई जगह जगह से उड़ गई थी और पीतल झांकने लगी थी—पान ले आई। मैंने पान की रकाबी पर नज़र डाली। नफ़ीसा को सर से पैर तक देखा। उसका पान पेश करने का अन्दाज़ देखा एक बीड़ा और ज़रा सी सुरती लेली मगर मेरे दिमाग़ में मेरे दोस्त की बहुत सी यादें एक बारगी घूम गईं। पानों के लिये वह नफ़ीसा को ही बुलाया करता था। किस प्यार से मेरे साथ मना

[illegible] लिखा [illegible]

[illegible] हुआ था और [illegible] मुख्तसर में पत्र का आशय यह था।

"आपका पत्र और उसके साथ संलग्न पत्रादि मिले। धन्यवाद। आपके मामले पर विचार कर लिया गया है। सरकार आपको सहायता देने को उत्सुक है किन्तु खेद है चालू आर्थिक वर्ष में आपको आर्थिक सहायता दे पाना सम्भव नहीं है। अच्छा हो अगले वर्ष आप इस बारे में शासन को स्मरण दिला दें।"

पत्र की अन्तिम पंक्तियाँ समाप्त होते होते मेरी नसों में बहने वाला खून जैसे जम गया हो। खत का आशय स्पष्ट था पर समझ में नहीं आ रहा था किवाड़ों की ओट में खड़ी अपने शायर दोस्त की पत्नी को इस खत का क्या मतलब समझाऊँ।

मेरे दोस्त को मरे दो महीने से ऊपर हो गये और नया आर्थिक वर्ष शुरू होने में अभी इतने ही दिन शेष हैं। मुझे याद है किन उम्मीदों और किस विश्वास के साथ हम सबने उससे अस्पताल में कहा था, "भाई हुकूमते हिन्द को क्यों नहीं लिखते। वह आजकल अदब और संस्कृति को खासा बढ़ावा दे रही है। निराला और नज़रुल को उसने दौराने बीमारी में इक्तसादी मदद दी है।"

मुझे यह भी याद है कितनी कोशिशों और जिद के बाद हम

उसे इसके लिये तैयार कर पाये थे, गोकि उसे खुद, सरकार से कोई उम्मीद न थी। फिर भी हमारी जिद के आगे उस बेचारे की न चली। सरकार को एक खत लिख दिया गया। तीसरे ही दिन जवाब आ गया, "पत्र के लिये धन्यवाद। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आपकी सेवायें सराहनीय हैं। आपकी बीमारी के समाचार से भारत सरकार विशेष चिन्तित है। कृपया संलग्न प्रश्नावली को भरकर भेज दीजिये ताकि आपके मामले पर विचार किया जा सके।"

प्रश्नावली में उसका नाम, उपनाम, पता, सकूनत, उसकी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियों, प्राप्त सम्मानों, बीमारी, आर्थिक स्थिति आदि का सम्पूर्ण विवरण भरकर लौटती डाक से भेज दिया गया था। मगर अफसोस उसके जीते जी सरकार का निश्चय न मालूम हो सका।

और एक दिन शायर—जिसके पास इलाज को छोड़िये, कफ़न के लिये भी पैसे न थे, दुनिया से उठ गया। शहर भर ने मातम मनाया। बाजार बन्द रहे। स्कूल कालेजों में हाफ डे हुआ। अखबारों ने काले हाशिये देकर उसकी मृत्यु का समाचार प्रकाशित किया। पत्र पत्रिकाओं ने सम्पादकीय और विशेष लेख दिये। कवियों ने कवितायें, लेखकों ने लेख लिख कर श्रद्धांजलियां अर्पित की। नेताओं और मन्त्रियों ने धआधार भाषण देकर अपना दुख सार्वजनिक रूप से प्रकट किया।

दो महीने बीत गये। जनता के दुख-दर्द, उसकी आशा-आकांक्षाओं को वाणी देने वाला कवि नो मन मिट्टी के नीचे हमेशा हमेशा के लिये सो गया है। और आज जब उसे मरे दो महीने से ऊपर बीत चुके हैं तब सरकार के शिक्षा मंत्रालय से आया हुआ यह पत्र मेरे हाथों में है। मैं सोच रहा हूं, किवाड़ों की ओट में खड़ी शायर की बीबी से खत का मजमूं कैसे बयान करूं ?

●